कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण

(कुण्डलिनी योग के वैज्ञानिक विवेचन और साधना विधि सहित)

लेखक

डॉ चमनलाल गौतम

रचयिता व सम्पादक:

योग महाविज्ञान, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, योगासन से रोग निवारण, सूर्य नमस्कार से रोग निवारण अष्टांग योग रहस्य, अष्टांग योग सिद्धि, हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, गोरक्ष संहिता आदि।

प्रकाशक

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब (वेद नगर),

बरेली-२४३००३ (उ०प्र०) फोन ४७४२४२

प्रकाशक :

डॉ. चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००३ (उ०प्र०)
फोन : ४७४२४२

✡

लेखक :

डॉ० चमनलाल गौतम

✡

✡

संशोधित संस्करण : सन् **2013**

✡

कम्प्यूटर कम्पोजिंग
सिद्धि ग्राफिक्स, ख्वाजा कुतुब, बरेली।

✡

मुद्रकः
शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी
नव ज्योति आफसेट,
पंचवटी, मसानी, (मथुरा) (उ०प्र०)
फोन : 2530590

✡

मूल्य : 40. रूपये मात्र

कुण्डलिनी साधना से पूर्णता की ओर

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर शरीर में विचित्र प्रकार का दिव्य विद्युत उत्पन्न कर देती है। ऐसे अनेक साधु–सन्त, महात्माओं के विषय में सुना जाता है। जिनके मुखमण्डल से तेज के कारण उनकी ओर देखने में चकाचौंध प्रतीत होता है। उन पर आँखे टिकाना भी असम्भव होता है। ऐसा सिद्ध पुरूष यदि क्रोध से किसी को देख ले तो वह भस्म हो जाए या चूर–चूर हो जाए। प्राचीनकाल में ऋषि जो शाप या वरदान देते थे, वह सत्य सिद्ध होते थे।

ऊँचे स्तर पर की जाने वाली साधना की परिणति तो अत्यन्त चमत्कारिक रूप से होती है। वर्तमान में भी साधु महात्माओं के आशीर्वाद फलित होते हैं, उनमें कुण्डलिनी की सिद्धि या योग–सिद्धियों का ही चमत्कार भरा पड़ा होता है।

सभी योग–शास्त्रों की एक ही मान्यता है कि कुण्डलिनी जाग्रत होने पर साधक को सिद्ध और मानव को महामानव बना देती है। वस्तुतः शरीर में अनेक शक्तिकेन्द्र विद्यमान हैं जिनके जागरण से मनुष्य में शक्ति सामर्थ्यों की प्रखरता स्पष्ट रूप से अनुभव में आने लगती हैं।

वस्तुतः कुण्डलिनी जागरण की साधना सफल होने पर अनेकों दिव्य क्षमतायें विकसित होने लगती हैं। ऐसा होने पर साधक सामान्य स्थिति से उठकर विशेष उच्च स्थिति में जा पहुँचता है। इस प्रकार यह साधना क्षमताओं को विकसित करने की अद्भुत भावना समझी जाती है।

कुण्डलिनी के पूर्व जागरण से पहले विद्युत ऊर्जा के तूफान उठेंगे, आयेंगे और जायेंगे। उफान आएगा और शान्त हो जाएगा। उच्चतम अनुभूतियों से पूर्व छोटी–२ अनुभूतियाँ भी साधक को होती रहती हैं, तभी तो उसका दिव्यमार्ग प्रशस्त होता चलता है। ऊर्जा के तूफानों से भयभीत न हों। न ही उसकी गति को रोकें। ऊर्जा की गति में सहायक हों। उसके साथ गतिमान हो जायें, मिल जावें। ऊर्जा ऊपर की ओर उठती है, गति तूफान की तरह तीव्र होती है। ऐसा लगता है कि आघात लग रहे हैं। शरीर को रोआँ–२ काँपने लगता है, तन–तन्तु झनझनाते हैं, तूफान में सूखे पत्ते विभिन्न दिशाओं में उड कर नये नये मार्ग अपनाते हैं, वैसे ही ऊर्जा भी अपने नये मार्ग बनाती चलती है, अपना फैलाव विस्तृत करती है। ऐसा भी समय आता है जब शरीर का प्रत्येक तन–तन्तु आन्दोलित होने लगता है और ऊर्जा पूर्णतः फैल जाती है। यह आन्दोलन अब शरीर को पीड़ित नहीं करता, न ही तीव्र कम्पन किसी प्रकार का भय उत्पन्न करती है, वरन् शरीर की पीड़ा जाती रहती है। वही स्थायी पीड़ा अपने रिक्त स्थान पर आनन्द और शांति की पुलक छोड़ जाती है जिसे आज तक संसार के किसी भी वैभव से निर्मित नहीं किया जा सकता और न ही भविष्य में ऐसा सम्भव है।

ऊर्जा जब ऊर्ध्वगामी होती है तो मूलाधार पर धक्के लगते हैं, विस्फोट की तैयारी होती है। शरीर की विद्युत ऊर्जा का संसार जब उठता हुआ मस्तिष्क तक पहुँचा है तो वहाँ भी धक्के लग सकते हैं। साधक को इन तूफानों से किसी प्रकार

भी चिन्तित नहीं होना चाहिए। यह तूफान शुभ के लिए हैं। इसके वाद यहाँ– शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता है। तूफान की विनाश लीला का निर्माता समझने वाला ही उन्हें राक्षसराज की संज्ञा देता है और मन में शरीर विनाश की कल्पना करने लगता है। परन्तु जिस उत्साही साधक में इन ऊर्जा के तूफानों से टकराने का साहस उत्पन्न हो जाता है, वह उन्हें केवल नाटक की तरह देखता है। इसके देखते ही देखते तूफान शान्त हो जाता है और असाधारण शक्तियों का स्वामी बन जाता है। दिव्य शक्तियाँ उसके साहस से प्रसन्न होकर अलौकिक अनुभवों की वर्षा करती है। इस महावर्षा का एक–एक अनुभव उसके लिए शक्ति व सिद्धि के भण्डार खोल देता है ओर वह जीवन निर्माण के नये पथ निर्मित करता चलता है।

कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर दिव्य आकृतियाँ, दिव्यगन्ध, दिव्यरस, दिव्य स्पर्श और दिव्य अनाहत ध्वनियों की अनुभूतियाँ होती हैं। मूलाधार चक्र में झनझनाहट होती है। उड्डियान, जालन्धर व मूलबन्ध अपने आप स्थिर होने लगते हैं। श्वांस स्वमेव बन्द हो जाती है, केवल कुम्भक बिना श्रम के सिद्ध हो जाता है। प्राणशक्ति का विद्युत प्रवाह सहस्रार की ओर प्रवाहित होने लगता है।

कुण्डलिनी सक्रिय होने पर मन्त्र शिरोमणि 'ओंकार' का स्वयमेव उच्चारण होने लगता है। मन में सांसारिक विषय–वासनायें विलीन होने लगती हैं, आज्ञाचक्र में ध्यान

स्थिर होने लगता है और शांभवी मुद्रा की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। कुण्डलिनी योग के सफल साधक के शरीर के विभिन्न भागों में प्राण की स्पष्ट सक्रियता अनुभव होती हैं और ऊर्जा के झटके लगते हैं। शरीर एक खोल की तरह प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि यह शरीर है ही नहीं, वह तो ऊर्जा का पुंज मात्र है।

जिस साधक को कुण्डलिनी महाशक्ति का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, वह अतीन्द्रिय शक्तियों का आगार ही बन जाता है, उसका शरीर वायु की तरह हल्का हो जाता है, प्रकृति के उसके समक्ष सभी प्रकार के आध्यात्मिक सन्देह मिट जाते हैं, वैदिक मन्त्रों के अर्थ उसे स्वप्न अथवा जाग्रतावस्था में सुनाई या अनुभव होने लगते हैं। असाधारण वक्तृत्व या कवित्व शक्ति का विकास भी हो सकता है। साधारण व्यक्ति को यह चमत्कार से प्रतीत होते हैं। जो साधक इनमें रस लेने लगता है, इसका अहं की पुष्टि के लिए प्रदर्शन करता है, उसे महानता, दिव्यता, प्रभु की कृपा और अनुग्रह से वंचित ही रहना पड़ता है। गुरूजनों ने सिद्धियों से सावधान रहने को कहा है।

कुण्डलिनी योग के साधक में ऊर्जा के व्यापक प्रवाह की विशेषता रहती है। इस प्रवाह से मन में एक अद्भुत मस्ती का जन्म होता है जो इन्द्रियों से कभी अनुभव नहीं हुई। इस दिव्य मस्ती में मन झूमता है। सोमरस के पान से जैसे व्यक्ति अपने होशोहवाश खो बैठता है, वैसे ही मस्ती में मन का आपा

भी लुप्त हो जाता है और शरीर को इसके लिए बाध्य करता है। शरीर भी एक ऐसे क्रम में सक्रिय रहने लगता है जिस से यह अनुभव होता है कि यह किसी अज्ञातशक्ति के अधिकार में है और उसके निर्देशों पर चलकर तांडव नृत्य कर रहा है। वह आनन्द की पुलक शरीर में घटित होती है परन्तु शरीर की नहीं होती। इस दशा में उच्च सत्ता के साथ ऐक्य की निकट सम्भावनाओं का आभास होता है।

शरीर में विद्युत–ऊर्जा के संचार से धीर धीरे शरीर भाव का विनाश होने लगता है। जितना–२ शरीर भाव गिरता है, उतना–उतना ही ऊर्जा का बोध विकसित होता रहता है। यह जीवन ऊर्जा कहलाती है। अपने को इसके चरणों में समर्पित कर दें तो महाशक्ति का अनुग्रह प्राप्त होने में देर नहीं लगेगी, ब्रह्मरन्ध्र की सक्रियता बढ़ेगी, सहस्रदल कमल विकसित होगा, एकता की अनुभूति होगी, शान्ति व आनन्द का अपूर्व अनुभव होगा। फिर कुछ जप करना शेष न रह जाएगा, फिर कुछ जानना शेष न रह जायगा, सारा जगत प्रकाश पुंज जैसा दृष्टिगोचर होगा। ऐसी स्थिति में अन्धकार का नितान्त अभाव हो जाता है। दिन तो दिन ही है। रात्रि का दिन बन जाता है। चेतन तो चेतन रहता ही है। संसार की हर जड़वस्तु में भी चेतना का संचार होता सा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि तर्क की सभी कसौटियाँ छिन्न–भिन्न हो गई हैं, सभी अज्ञात पहेलियों के उत्तर आँखों के सामने तैरने लगते हैं। दिव्य सत्ता के बन्द द्वार अपने आप खुलने लगते हैं, चमकने लगते हैं, चेतनयुक्त से अनुभव होते हैं, चेतना ही चेतना रह जाती है।

देह शून्यता से जब शून्यता का अवतरण होता है तो ध्यान के गहरे होने पर शरीर भाव तो मिट ही जाता है, जाग्रतावस्था में भी ऐसी ही अनुभूति होने लगती है। इसके वाद जब ब्रह्मभाव का जागरण होता है तो साधना की पूर्णता समझनी चाहिए। यही परमानन्द की दशा है जो महाशक्ति के परम अनुग्रह से सुनिश्चित रूप में प्राप्त होती है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम सभी पाठकों को सादर आमन्त्रित करते हैं।

☼ विषय सूची ☼

कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी शक्ति और साधना

शरीर में शक्ति केन्द्र

शरीर में एक ऐसा शक्ति केन्द्र विद्यमान है जो मनुष्य को विविध कार्य करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो शक्ति के बिना किया जा सके। वर्तमानकाल में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई भी मशीनरी कार्य विद्युत के बिना नहीं हो पाता। बिजली है तो मशीन चलेगी, बिजली है तो पंखा हवा फेंकेगा और बिजली है तो प्रकाश होगा। बिना बिजली सब निरर्थक।

उसी शक्ति को ऊर्जा कहते हैं। वह भी न्यूनाधिक होती है, उसमें अश्वशक्ति का परिमाण रहता है। कम अश्वशक्ति के मोटर से अधिक शक्ति से चलने वाला कोई यन्त्र चलाया जाए तो वह चलेगा नहीं, वरन् एक खतरा मोटर के फुक जाने का रहेगा। हाँ, अधिक अश्वशक्ति की मोटर हल्की मशीन को बिना बाधा, भले प्रकार चला सकता है।

बाह्य ऊर्जा के समान ही मनुष्य में आन्तरिक ऊर्जा

रहती है। वही शक्ति है, उसी के बल पर वह बड़े से बड़े कार्य कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि वह शक्ति है क्या? उसका अनुसन्धान आज का विषय नहीं, लाखों वर्षों से प्रयोगनीय रहा है। हमारे पूर्व ऋषियों ने उसी शक्ति को, उसी ऊर्जा को परमात्मा कहा है। कुछ लोग शङ्का करते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, किन्तु मनुष्य के भीतर जो शक्ति है, जो ऊर्जा है, उसमें उतनी सामर्थ्य नहीं।

किन्तु बात ऐसी नहीं है, वह ऊर्जा या शक्ति परमात्मा की ही अंशभूत है। उसे 'आत्मा' इसलिये कहते हैं कि वह परमात्मा का ही अंश है। इसलिए जो गुण परमात्मा में हैं, वे आत्मा में भी होने चाहिए। जो लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते, वे अवश्व ही उसके जानकार नहीं हो सकते। मनुष्य में परमात्मा जैसी शक्ति इसलिए प्रतीत नहीं होती कि आत्मा शरीर के आवरण में रहकर जकड़ जाती है। दूसरे वह जितना कुछ उस स्थिति में भी कर सकती है, उतना करने के लिए भी हम प्रयत्नशील नहीं रहते।

जीवनाधारा का शक्तिकेन्द्र से सम्बन्ध

शरीर में आत्मा ही वह केन्द्र है, जिसे शक्ति कहते हैं। उसके अप्रखर रहने का एक कारण यह है कि शरीरस्थ जीवनधारा उस केन्द्र से सम्पर्क नहीं रखती। वस्तुतः जीवनधारा के प्रतिकूल प्रवाह से केन्द्र से सम्पर्क नहीं रखती। वस्तुतः जीवनधारा के प्रतिकूल प्रवाह से केन्द्र में निष्क्रियता बनी रहती है। शरीर के सभी अङ्गों तक पहुँचे यदि एक अङ्ग पर

भी नहीं पहुँचती तो वही अङ्ग बेकार पड़ जाता है।

इसलिए प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि सभी अङ्ग सुपुष्ट रह सकें। सभी अङ्गों को धाराप्रवाह समान रूप से प्राप्त होती रहे। इसे करने के लिए कोई दूसरा नहीं जायगा। लोग भाग्य पलटने के विश्वास को लेकर ज्योतिषयों एवं मन्त्र वेदों का सहारा लेते हैं। किन्तु कोई भी कार्य दूसरों के करने से सम्पन्न नहीं हो सकता।

सत्य का निवास

हमें उस केन्द्र को पहचानना होगा, जहाँ सत्य का निवास रहता है। उसी केन्द्र के जानने से हम परमात्मा को जान सकते हैं। उसके जाने बिना मोक्ष का द्वार खुल नहीं सकता। उसे समझे बिना हम उस आनन्द को नहीं समझ सकते, जो अनिर्वचनीय कहा जाता है जिसे वाणी के द्वारा अनुभव में नहीं लाया जा सकता। नेत्रों के द्वारा जिसका दर्शन सम्भव नहीं।

उसे देखने के लिए दिव्य आँखें चाहिए। सुनने के लिए भी दिव्य कान अपेक्षित हैं। यह स्पष्ट है कि जो व्यापार असीम है, वह स्थूल नेत्रों से दिखाई दे, यह सम्भव भी कैसे हो सकता है क्योंकि स्थूल तो सीमित है और वहीं केन्द्र एक उदासीन की भाँति रहा आता है। वह केन्द्र आत्मा के अस्तित्व के साथ उसकी परिधि में रहा हुआ भी ज़ीवन धारा के सम्पर्क में नहीं आता। उस तक हमारी शारीरिक ऊर्जा पहुँच ही नहीं पाती। उसके कहीं मार्ग में अटक जाने के कारण मनुष्य

उससे मिलने वाले लाभ से वंचित ही रह जाता है।

ऊर्जा का गलत प्रयोग

किसी भी ऊर्जा के सही प्रयोग की आवश्यकता होती है। विद्युत को ही लीजिए— उसका सही प्रयोग न हो तो प्राणान्तक सिद्ध होती है। उसका प्रयोग निर्माण और नाश दोनों में ही किया जा सकता है। इसी प्रकार की ऊर्जा आपके पास विद्यमान है। यदि आप उसका सदुपयोग करना चाहें तो सहज ही कर सकते हैं।

साधन होते हुए भी उनका उपयोग न करना अपनी ही कमी तो हो सकती है। परन्तु जिसके पास नेत्र हैं और वे न देखे तो अपराध किसका? कोई सही कान वाला कोई बात न सुने तो उसमें दोषी कौन हो सकता है? जो वस्तु इतने निकट है कि उसे सहज में ही टंटोल सकते, देख सकते या सुन सकते हैं। यदि हम उसे न छू सकें या न सुने सकें तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि कहीं कोई ऐसी बात है जो उसमें बाधास्वरूप आगई है। न जाने कितने मनुष्य नित्यप्रति संकीर्तनादि में भाग लेते हैं, न जाने कितने मन्दिरों में दर्शनार्थ जाते हैं, न जाने कितने व्यक्ति कथा वार्ता सुनते हैं और न जाने कितने धर्मगुरू उपदेश देते हैं, परन्तु उनमें से कितने यह कह सकते हैं कि उन्होंने परमात्मा को प्राप्त किया, उनके दर्शन किए या दर्शन कराने में सहायक हुए?

परन्तु क्यों? क्यों नहीं हुए परमात्मा के दर्शन? क्या परमात्मा नहीं है प्रायः सभी का विश्वास है कि परमात्मा की

विद्यमानता अवश्य है। यह बात दूसरी है कि नास्तिक इस तथ्य को स्वीकार न करते हों। परन्तु जो व्यक्ति आस्तिक हैं, वे भी क्या उसका स्वरूप जान सकें हैं?

ईश्वर को देखने के लिए आँखे चाहिए

ईश्वर है, परतु उसे देखने की आँखें हमारे पास नहीं हैं। आँखें हैं भी तो उस पर कुछ ऐसा आवरण चढ़ा हुआ है जो देखने में बाधक है और हम अपने ही प्रमादवश उसे हटाना नहीं चाहते और उस आवरण के बिना हटे हम ईश्वर को देख सकें, यह कैसे सम्भव होगा? आप देखते हैं कि द्वार पर जब मोटा पर्दा पड़ता है तब कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता।

इसी प्रकार घोर अन्धकार हो तो यही स्थिति होगी। अन्धकार और प्रकाश दोनों परस्पर विपरीत अस्तित्व वाले हैं। रूप दर्शन की क्रिया प्रकाश रूप साधक के बिना कदापि नहीं हो सकती। यदि कोई अन्धा कहे कि मुझे दिखाई दे रहा है वह रूप, तो अवश्य ही या तो वह झूठ बोलता है या अन्धा है ही नहीं।

आँख बाले भी नहीं देख पाते

कभी–२ आँख वालों को भी दिखाई नहीं देता। हम अनुभव करते हैं कि सामने जो दृश्य उपस्थित है उसमें चित्त न रहकर किसी अन्य चर्चा में या विकार में है तो वह दृश्य दिखाई नहीं देता। बहुत बार हम किसी समस्या में उलझे हों और कोई व्यक्ति कुछ अन्य बातें कहे तो हम उसे सुन नहीं पाते।

और प्रकृति की यह प्रक्रिया आज की नही, बहुत पुरानी है। आदि काल से चली आ रही है। फिर भी हम सदा से ऐसा दम्भ भरते आए हैं कि हमें सब कुछ दिखाई देता है। इस दम्भ पर अनेक मन्दिर–मस्जिदों की दीवारें खड़ी हैं। लोग कहते हैं कि यह मन्दिर है, इसके भीतर भगवान् विराजमान हैं। दर्शन करो। वे तुम्हारे कल्याण करेंगे, वे तुम्हें इच्छित वर प्रदान करेंगे।

हम उस प्रकार को, उस दम्भ को स्वीकार करते हैं। मन्दिर में जाकर सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित प्रतिमाओं के दर्शन करते हैं और यह मान लेते हैं कि हमारा कल्याण हो गया, हमें सब कुछ मिल गया। यद्यपि हमारा मन कहता है कि अभी भी हम वहीं हैं, जहाँ पहले थे। हमारी स्थिति उससे अच्छी नहीं हुई हैं, फिर भी लोक–लाज समाज के प्रचलन और भक्तों के मध्य अपनी स्थिति बनाने के लिए हमें यह मानने को विवश होना पड़ता है कि हमें अभीष्ट की प्राप्ति हो गई।

ईश्वर की देखा-देखी मान्यता

वस्तुतः जो लोग कहते हैं कि भगवान् सभी कुछ देते हैं, वे किसी तरह से दूसरों से यह मनवा लेते हैं कि उनका कहना ठीक है। हमारे देश में 'भेड़–चाल' प्रसिद्ध है। भेडों के समूह में आगे की भेड़ जिधर चलेगी, उधर ही सब भेंडें जायेंगी, फिर वह आगे वाली भेड़ चाहें किसी खाई या नदी में ही क्यों न गिर रही हो। यही हाल हमारे भगवद्भक्त समाज का है जिसे कोई मतलब नहीं कि सत्य क्या है? उसे तो यह

सिद्ध करना है कि हमारी मान्यता सही है।

और समूह की वह मान्यता यह तो मनवा देती है कि यह भगवान् है, परन्तु भगवान् को मान लेने पर भी उसका जान लेना तो जिज्ञासा का विषय रहता ही है क्योंकि मानने और जानने में बहुत बड़ा अन्तर है, उतना ही जितना कि तीन और छः में होता है। यदि कोई न मानें तो उससे तर्क किया जायगा, उस पर विद्वता और 'गुरूडम' का रौब भी गाँठा जायगा। यदि उतने पर भी न माने तो उसकी हँसी उड़ाई जाएगी और उसे नास्तिक तक कह दिया जाएगा। फल यह होता है कि वेचारा हाँ से हाँ मिलाने लगेगा। चाहे हृदय न माने, ऊपर से तो मानने का दिखावा करना ही होगा।

बहुत जानने का दम्भ

और आप आश्चर्य करेंगे यह सुनेकर कि अनेंको व्यक्ति जो मन्दिर में भगवान् होने के विषय में अभी सुनिश्चित नहीं हो सके हैं, दूसरों के समक्ष ऐसा प्रदर्शन करेंगे जैसे कि उससे अधिक समझ वाला कोई दूसरा नहीं है। इस प्रकार मानने वालों की भीड़ बढ़ती जाती है किन्तु उस भीड में जानने वाला कोई होगा या नहीं, इसे वह स्वयं जाने या उनका जाना हुआ परमात्मा। हर कोई कैसे जाने कि भीड़ में सभी व्यक्तियों में कौन ऐसा है जो परमात्मा को जानता है?

और परमात्मा अपने ही भीतर है, यह उनका मत है जो उसे बहुत जान पाए हैं, हमारे उपनिषदों का मत है कि परमेश्वर के विषय में यदि कोई कहे कि मैं उसे जानता हूँ तो

समझो कि वह ईश्वर को जान तो सका है, किन्तु थोड़ा। उसको 'बहुत जान गया हूँ' कहना चाहे उसकी जानकारी में ठीक हो, किन्तु तथ्य की कसौटी पर कसें तो एक दम्भ ही प्रतीत होगा।

उपनिषद का मत है कि कोई यह दावा करे कि मैं परमश्वेर को कुछ जान गया हूँ तो उससे यह समझ लेना चाहिए कि वह उस विषय में कुछ भी नहीं जानता। परमात्मा का नाम सुन लेना मात्र उसे जान लेना नहीं है। वरन् जानता तो वह है जिसकी साँसारिक भोगों से रूचि हटकर, ऊर्जा का प्रवाह परमात्मा की ओर दौड़ने लगे।

ऊर्जा का दौड़ता हुआ प्रवाह

ऊर्जा का जो प्रवाह हमारे शरीर में दौड़ता रहता है। वह परमात्मा को जानने की अधिक सम्भावनायें प्रस्तुत कर सकता है। वस्तुतः हमारा शरीर अनन्त संभावनाओं का घर है। परन्तु हम अपने शरीर में विद्यमान संभावनाओं के विषय में ठीक प्रकार से नहीं जानते।

उन सम्भावनाओं का ज्ञान हमारा अन्तर ही करा सकता है। कोई बाह्य शक्ति उसका बोध नहीं करा सकती। जैसे लोगों के तर्क, प्रमाण या व्यंग मन्दिर में भगवान् का होना मनवा देते हैं वैसे ही सम्भावनाओं का ज्ञान नहीं करा सकते। यदि कोई बलपूर्वक प्रभावित करना भी चाहे तो अवश्य निरर्थक होगा।

जब हमारा अन्तर उनका बोध कराएगा तब उन पर विश्वास भी स्वतः उत्पन्न हो जायगा और यह कोई अस्वाभाविक बात भी नहीं कि जिसे नहीं जानते, उस पर दूसरों के कहने से विश्वास भी क्यों कर लें। यदि हम ऐसा करते भी हैं तो यह अपने आप में ही एक बड़ी प्रवंचना होगी।

स्वयं के अनुभव से ज्ञान

हम यह नहीं कहते कि ईश्वर को नहीं जानते और सभी को अपने भीतर विद्यमान संभावनाओं का ज्ञान नहीं, वरन् हमारा तात्पर्य यह है कि किसी अन्य के जान लेने पर उसका ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। हमें तो उसकी प्राप्ति स्वयं के अनुभव से ही सम्भव है।

दूसरे जो लोग परमात्मा को जानते हैं, उनके पूजन से भी आप परमात्मा को जान सकें, यह नहीं हो सकता। कोई शिष्य गुरू की सेवा मात्र करे और उससे कोई विद्या ग्रहण न करे तो गुरू के समान ज्ञानी या विद्याविद् नहीं हो सकता। बहुत से शिष्य ज्ञान में गुरू से भी आगे बढ़ जाते हैं, इसका कारण उनके द्वारा की जाने वाली गुरू सेवा नहीं, वरन् व्यक्तिगत रूप से ज्ञान या विद्या का उपार्जन का निरन्तर प्रयत्न ही होता है।

यदि कोई मूर्ख मनुष्य किसी विद्वान् के पास आकर उसका पूजन करे और समझ ले कि मैं भी विद्वान् हो गया तो वह एक बहुत बड़े भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं। हाँ, गुरू या विद्वान् अपना ज्ञान देने के लिए कोई-कोई उपाय बताए या

ज्ञानाभ्यास कराए तो कालान्तर में उसकी प्राप्ति हो सकती है।

यदि जानने की वास्तविक इच्छा होती है तो ज्ञान कराने वाले का आदेश भी मानना होता है। यह कौन नहीं जानता कि तैरना सीखना है तो पानी में उतरना या कूदना ही पड़ेगा। यदि उस समय भय माना तैरना नहीं आएगा। यद्यपि तैरना सभी जानते है, अनुभव रूप से (प्रैक्टिकल) नहीं लिखित (थ्योरोटिकल)। यदि उस थ्योरी को प्रेक्टिकल में बदल लिया जाए तभी उसके पैतरों का ज्ञान हो सकता है। यदि उसे जाने बिना नदी के जल में पहुँच जाँय तो डूबने की भी आशंका हो सकती है।

हिचक छोड़ने पर ही सिद्धि

वस्तुतः यदि आप जल में उतरने में हिचक का अनुभव नहीं करते और हाथ पाँव चलाने की क्रिया में भी आनन्द लेने लगते हैं तो तैरने की क्रिया का आरम्भ वहीं से हो सकता है। फिर सिखाने वाले ढंग से अभ्यास करने पर तो मनुष्य अच्छा तैराक बन ही सकता है।

और जब तैरना आ जाता है, तब लगता है कि अरे, वह तो हम पहले से ही जानते थे। व्यक्ति ही इसकी उपेक्षा करते रहे और मानते रहे कि हम तैरना नहीं जानते यह गुण हमारे भीतर तो पहिले से ही विद्यमान था किन्तु तैरने की प्रकट अनुभूति नहीं थी। उस अनुभूति का न होना ही अज्ञान था। वह अज्ञान ही हमें पानी से भयभीत किए हुए था।

मृत्यु सत्य, किन्तु उससे बचने का प्रयत्न

सभी जानते–सुनते हैं कि जिसने जन्म लिया है वह मरेगा अवश्य ही। परन्तु जीवित मनुष्यों को मृत्यु का भय व्याकुल किए हुए हैं। यह जानते हुए भी कि मृत्यु सत्य है, हम उससे बचे रहने के लिए सदैव तर्क करते रहते हैं। यदि हम मृत्यु का भय छोड़ दें तो अमर हो सकते हैं। क्योंकि सांसारिक मृत्यु का नाम ही अमरत्व है। कोई संसार में रहते हुए अपने को अमर बनाना चाहे तो यह कभी हो ही नहीं सकता। कोई भी वस्तु अपने स्वभाविक गुण को नहीं छोड़ सकती। संसार का नाम ही मृत्युलोक है, यहाँ जो आएगा उसे मरना भी पड़ेगा ही।

हमारा मस्तिष्क भी एक ऐसा ही केन्द्र है, जिसमें संसार भर का ज्ञान भरा हुआ है। यह ऐसा भण्डार है जिसमें सभी कुछ समा जाता है और सुरक्षित रहता है जो कुछ भी बीतता है, वह मस्तिष्क में रिकार्ड मानकर संचित हो जाता है।

परन्तु मस्तिष्क का वह विशाल भण्डार पूर्ण रूप से काम में नहीं आता। किसी शरीर के विज्ञान के ज्ञाता से उसका कारण पूछें तो पता चल जायगा कि हमारे स्वरूप ज्ञान का कारण मस्तिष्क के स्वरूप भाग का क्रियाशील रहना है। क्योंकि उसका बहुत बड़ा भाग तो निष्क्रिय ही पड़ा है। इसलिए उसकी उतनी बड़ी निधि उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे पूँजीपतियों की तिजोरियों में भरी अपार सम्पत्ति बन्द पड़ी रहती हैं।

कौन जाने कि मस्तिष्क के निष्क्रिय पड़े भाग में क्या क्या ऐश्वर्य, कौन–कौन से ज्ञान और कैसी–कैसी सामर्थ्य छिपी पड़ी हैं। यही मस्तिष्क अतीन्द्रियत्व से परिपूर्ण है। पौराणिक कहते हैं कि कामदेव को भस्म करने के लिए शिवजी ने अपना तीसरा नेत्र खोला था। वह तीसरा नेत्र यह मस्तिष्क ही है। यदि हम इसे खोलना सीख लें तो हम न जाने क्या हो जाँय।

परमात्मा का दर्शन कराने में समर्थ शक्ति

इस मस्तिष्क में ही यह शक्ति है जो हमें परमात्मा का दर्शन करा सकती है। आप मन्दिर में जाकर दर्शन करें अथवा घर पर ही चिन्तन करने लगे, जब तक मस्तिष्क का प्रभाव परमात्मा दर्शन के लिए शक्तिपात नहीं करता, तब तक वह दर्शन नहीं हो सकते। यदि मस्तिष्क उसके लिए तैयार है तो कहीं भी रहिए, किसी भी स्थिति में खाते–पीते, बैठते–लेटते एवं चलते हुए भी परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। इसके लिए प्रमुख सहायक मन्दिर नहीं–मस्तिष्क है।

आप पूछेंगे–कैसे? बात स्पष्ट है कि मस्तिष्क तथ्य की तह में प्रविष्ट होना जानता है। वह किसी भी आकार को बेधकर उसकी आत्मा में प्रविष्ट हो सकता है और तब नेत्रों के सामने से आकार दूर होने लगता है और निराकार परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। इसी की शक्ति हमें मृत्यु से पार करने में समर्थ है।

जीवन क्या है? वही जो आनन्द की धारा प्रवाहित

कर दे। वही– जो सभी प्रकार की सामर्थ्यों से युक्त रहे। आज का मनुष्य जिस प्रकार जी रहा है, वह नाममात्र का जीवन है और वह भी समझ रखा है।

परन्तु यह उनका भ्रम है। श्वांस लेने भर को जीवन नहीं मान सकते। जन्म लेना, किशोर का तरूण होना, विवाह करना, बालक उत्पन्न करना और फिर वृद्धावस्था आने पर मर जाना। इसका अर्थ हुआ जन्म लेना और मर जाना ही जीवन है।

यदि मनुष्य अपना उत्कर्ष चाहता है तो उसे इस भ्रान्ति को तोड़ना होगा। उसका आज का जीवन एक यांत्रिक कार्य से बढ़कर कुछ भी नहीं करता। यदि यह उसे यांत्रिक कार्य से ऊपर उठा सके तो समझा जा सकता है कि उसके वास्तविक रूप से प्रयास चल रहे हैं।

आप पूछ सकते हैं कि जीवन को वास्तविक मोड़ देने के लिए कौन से प्रयास अभिप्रेत हैं? हमें क्या करना चाहिए जिससे हम सही अर्थों में कह सकें कि हममें जीवन विद्यमान है। यह कौन सी शक्ति हो सकती है, जो हमें अपनी जीवनधारा को सहज गति देते रहने की सामर्थ्य प्रदान करती रहे।

इसे ठीक प्रकार से समझ लें

जीवन को सही मोड़ देने और उसे सक्रिय बनाने वाली जिस शक्ति की चर्चा की जा रही है। यदि उसे ठीक

प्रकार से समझ लें तो आपको किसी प्रकार की शिकायत नहीं रह सकती। उस शक्ति या ऊर्जा का स्थान शरीर के मूलाधार में है। यह शक्ति समस्त शक्तियों से बढ़कर है और कोई भी कार्य ऐसा नही जिसे सम्पन्न कराने में यह सहायक न हो सके।

इस शक्ति की सहायता से मनुष्य बड़े–बड़े अद्‌भुत कार्य कर सकता है। रामायण पढने सुनने वाले लोग जानते हैं कि हनुमान नामक एक बन्दर संजीवनी बूटी की खोज में हिमालय पर्वत पर गया और बूटी को ठीक प्रकार से न पहिचान पाने के कारण पूरे पर्वत शिखर को उखाड़ लाया। क्या आप जानते हैं कि यह कैसे हुआ?

लोग कहते हैं कि हनुमान में दिव्यशक्ति थी तथा वरदान का भी प्रभाव था। हम किसी के विश्वास को तोड़ने की बात नहीं कहते किन्तु इतना बता सकते हैं कि वह सभी शक्ति मनुष्य को भी प्राप्त हैं। अब यह बात भिन्न है कि आप अपनी उस शक्ति का उपयोग करना न जानते हों।

हनुमान को भी जब उनकी शक्ति के विषय में बताया जाता था, तभी स्मरण होता था, अन्यथा वह सामान्य वानर के समान ही थे। जब सीता की खोज में समुद्र पार करना जरूरी था, तब अन्य वानरों ने इस कार्य के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया और याद दिलाई कि तुम समुद्र को लांघने की क्रिया जानते हो, उसे याद करो।

जीवन शक्ति का नाम कुण्डलिनी

उस शक्ति का प्रसिद्ध नाम कुण्डलिनी है। यह कोई आधुनिक खोज नहीं है, वरन् भारत के योगीगण लाखों वर्षों से इस शक्ति की सहायता से बड़े बड़े अद्भुत कार्य किया करते थे। भारत से ही यह विद्या तिब्बत के लामाओं के पास पहुँची और वे इसमें इतने पारंगत हो गये कि सब कुछ करने में समर्थ प्रतीत होते थे। अनेक विदेशियों ने भी उनकी विद्या को देखा–परखा और आश्चर्यजनक पाया।

कुण्डलिनी योग, योगियों की अपनी विद्या है। इसका प्रयोग अनेक यांत्रिक और तांत्रिक भी करते हैं। प्राचीनकाल में जितने भी दिव्यकार्य किए जाते रहे, उन सबमें कुण्डलिनी शक्ति की ही अधिक सामर्थ्य थी।

और वह शरीर में विद्यमान है।

वह शक्ति अन्यत्र कहीं नहीं, मनुष्य शरीर में ही विद्यमान है। वह सर्पिणी के समान साढ़े तीन कुण्डली लगाये विद्यमान रहती है। इसीलिए इसे कुण्डलिनी नाम दिया गया है। परन्तु यह शक्ति प्रायः सोई हुई अवस्था में रहती है। जब तक वह जागती नहीं, तब तक मनुष्य अपनी ईश्वर, प्रदत्त सहज ऊर्जा से वंचित ही रहता है।

कुण्डलिनी शक्ति उसी प्रकार सुप्त रहती है, जैसे साँप सोया रहता है। जरा सोते हुए साँप को छेड़कर देखिए, वह तुरन्त क्रोधावेश से भरकर फन ऊँचा उठा लेगा और

जगाने या छेड़ने वाले को सवक सिखाने की मुद्रा में हो जाएगा। उस स्थिति में उसके कुण्डल (लपेटा) खुल जायेंगे। उसकी प्रतिक्रिया का आभास तभी हो जायेगा।

इसी प्रकार हमारे शरीर में विद्यमान यह कुण्डलिनी शक्ति है। इसकी स्थिति यौन केन्द्र के निकट है। उसी क्षेत्र को मूलाधार क्षेत्र कहते हैं। समूचे शरीर को शक्ति यहीं मिलती है। प्रजनन सम्बन्धी ऊर्जा अथवा शुक्र की क्रियाओं में भी इसी क्षेत्र का प्रमुख रूप से योगदान रहता है।

शक्ति स्फुरण की परिधि

जैसे किसी साधारण स्थिति में सोता हुआ साँप कुछ ही हिल कर रह जाए और पूर्णरूप से जाग्रत न हो तो स्पष्ट है कि वह अपने क्रोधावेश का प्रकाशन नहीं कर पायेगा। उसके थोड़ा हिलने पर वातावरण में भय अवश्य उत्पन्न हो सकता है। किन्तु उसका कोई बड़ा–भारी परिणाम निकलने वाला नहीं होता।

उसी प्रकार हम अपने जीवन में जो कुछ भी सामान्य कार्य करते हैं, वे सब कुण्डलिनी शक्रि के समान्य स्फुरण की ही परिधि में जाते है। उन सामान्य कार्यों वाली शक्ति या स्फुरण को ही हम जीवन मान बैठे हैं, किन्तु यह जीवन किसी प्रकार की विशिष्टता से वंचित ही रहता है।

परन्तु जब यह सर्पिणी जाग्रत हो जाती है, तब उसके आकार प्रकार के क्या कहने? वह जानकर खड़ी होती है तो

उसका फन मस्तिष्क तक जा पहुँचता है। यही उसकी पूर्णरूपेण जाग्रत स्थिति है, जिसकी प्राप्ति सभी के लिए सम्भव नहीं।

हमारे मूलाधार में विद्यमान यह प्रकृति जब जाग्रत होकर मस्तिष्क का स्पर्श करती है तब निश्चय ही प्रकृति और पुरूष के मध्य का अन्तर दूर हो जाता है। प्रकृति और परमात्मा के मध्य केवल इतनी सी ही दूरी है, जिसका पार करना मैदान में हजारों फुट की ऊँचाई वाले पर्वत शिखर पर चढ़ने के समान है।

परन्तु धैर्यपूर्वक कोई कार्य किया जाए तो सभी कठिनाइयां स्वतः दूर होने लगती है। इसलिए यह कार्य भी हमें धैर्य रखते हुए ही करना होगा। किसी भी वस्तु का अभ्यास एक नियम की अपेक्षा रखता है। इसलिए शक्ति जागरण का अभ्यास भी बिना नियम के नहीं होना चाहिए।

क्या साँप के काटने से मृत्यु हो जाती है?

सम्भवतः आप जानते हों कि सभी साँप विषैले नहीं होते। बरन् सर्प विज्ञान के विशेषज्ञों के मत में तो सौ में से तीन—चार साँप ही जहरीले होते हैं। शेष छियानवे–सतानवे प्रतिशत साँपों से मनुष्य इसलिए डरते हैं कि उनका नाम साँप है। उनका आकार भी जहरीले साँपों जैसा ही है। साँप पकड़ने में दक्ष अनेक व्यक्ति इस तथ्य से परिचित्त रहने के कारण साँपों को पकड़ लेते हैं।

परन्तु साँप के काटने से मरने वालों की संख्या को भी नकारा नहीं जा सकता और इसलिए आप यह पूछ सकते हैं कि साँप काटता नहीं तो मनुष्य मरता क्यों है? वस्तुतः यह प्रश्न सार्थक भी है, साँप काटता है तो मनुष्य मरते भी है, यह कोई मिथ्या बात नहीं, वरन् मिथ्या बात यह है कि उसकी मृत्यु साँप काटने से हुई है।

यह बात झूँठ नहीं कि अधिकांश व्यक्ति साँप के काटने पर इस भय से मरते हैं कि उन्हें सांप ने काट लिया है। यह विश्वास उनके मन में एकदम से उत्पन्न होकर पनपने लगता है और प्राणान्त का प्रमुख कारण होता हैं यदि सांप द्वारा काटे जाने पर भी मनुष्य यह विश्वास करले कि वह साँप जहरीला नहीं था तो यदि जहरीले साँप ने भी काटा हो तो उसका जहर आधा ही चढ़ेगा, जिसके फल स्वरूप उसकी प्राणरक्षा की बहुत कुछ आशा रहती है।

इसलिए कुछ लोग मानते हैं कि किसी साँप को छेड़ना उतना खतरनाक नहीं है, जितना कुण्डलिनी शक्ति को छेड़ना क्योंकि वे तीन चार प्रतिशत जहरीले साँप भी मनुष्यों को मारने के कारण बहुत कम होते हैं। किन्तु कुण्डलिनी शक्ति छेड़ने पर अधिक खतरनाक बन जाती है।

कुण्डलिनी की आराधना को भी कुछ समझना पड़ेगा। किसी भी विस्फोटक पदार्थ के रखने और प्रयोग करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है। क्योंकि अनेक विस्फोटक किंचित् हिलने डुलने से ही विस्फोट कर बैठते हैं। यदि

उनका प्रयोग कोई अनजान आदमी करे तो खतरे की अधिक आशंका हो सकती है।

उल्टे-सीधे आसनों का प्रयोग

इस प्रकार कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया को जाने बिना उल्टे–सीधे आसनों के बल पर उसका किया जाना बहुत हानिकारक भी हो सकता है। इसीलिए हमारे प्राचीन योगीजन इसके रहस्य का उपदेश उन्हीं व्यक्तियों के लिए करते हैं, जो उनके विषय में जानकर और अभ्यस्त हो रहे हों।

परन्तु जो लोग कुण्डलिनी जागरण के खतरे को जानकर उससे बचते हुए अभ्यास करते हैं और उसमें सफल हो जाते हैं तो मृत्यु से बच सकते हैं। जहरीले साँप के काटने से जो मृत्यु हो सकती है, वह भौतिक शरीर की मृत्यु है। परन्तु कुण्डलिनी जागरण से होने वाली मृत्यु उन विषयों की मृत्यु है जो भौतिक सुखों की ओर अधिक प्रेरित करते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति को छेड़ने का खतरा यही है कि उसके जाग्रत होते ही मनुष्य का पूर्व स्वरूप नष्ट हो जाता है और नवीन स्वरूप प्रकट हो जाता है। योगीजन इसे पूर्व देह की मृत्यु और नवीन देह की प्राप्ति की प्रक्रिया कहते हैं।

यह निश्चय है कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होते ही आपके पुराने शरीर क़ो नष्ट कर देगी। जैसे अग्नि में पड़े हुए ईधन का सब कुछ भस्म हो जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता, वैसे ही कुण्डलिनी के जागने पर सभी पुराने संस्कार एवं

आत्महीनता के विचार दग्ध हो जाते हैं और मनुष्य सच्चे अर्थों में धार्मिक बन जाएगा।

अनेक धर्मगुरू इसीलिए कुण्डलिनी को अधिक महत्व नहीं देते हैं कि जिस किसी को उसका उपदेश देंगे वही हाथ से निकल जाएगा, वही सही अर्थों में धार्मिक बन जाएगा और ऐसा होने पर गुरूओं का गुरूडम समाप्त। तब इस खतरे को मोल ही क्यों लिया जाय?

कर्मों का भोग और ईश्वर प्राप्ति

सर्प काटने वाली स्थिति भी मारक है और कुण्डलिनी जागरण वाली भी मारक। परन्तु दोनों प्रकार के मरने में बड़ी भारी भिन्नता है। एक स्थिति मारती है– कर्मों का भोग करने के लिए और दूसरी मारती है– ईश्वर प्राप्ति के लिए। एक में विष है तो दूसरी में उससे भी कुछ अधिक मारकता। देखने में दोनों के ही परिणामों में खतरा प्रतीत होता है।

परन्तु, सुख की प्राप्ति दुःख उठाकर ही होती है। दिव्य पुष्पों की पहाड़ी पर चढ़ना कठिन अवश्य है, किन्तु वहाँ पहुँचने पर जिस आनन्द की अनुभूति हो सकती है, वह सरल मार्ग पर चलने से नहीं हो सकती। कुण्डलिनी जागरण की क्रिया ईश्वर तक पहुँचाने वाली होने के कारण कठिन होती है तो भी परिणाम में अत्यन्त सुखद होती है। इसलिए जो लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिए उत्सुक हैं, उन्हें कठिनाई को झेलने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

अधूरे मार्ग मंजिल नहीं।

शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न में कोई कमी नहीं की जानी चाहिए। मंजिल तभी मिलती है, जब मार्ग पूरा पार कर लिया जाए। अधूरे मार्ग में मंजिल कभी मिल ही नहीं सकती। कोई खिलाड़ी खेल पूरा हुए बिना ही मैदान से हट जाय तो वह आउट जाना जा सकता है। उसका किया हुआ परिश्रम भी वेकार हो जाता है।

कोई कार्य अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्रकृति जो कुछ करती है अपनी समझ में पूरा ही करती है। जन्म या मरण की प्रक्रिया में भी अधूरापन नहीं छोड़ती। क्या कोई कह सकता है कि उसने प्राणियों की अधूरी उत्पत्ति अथवा मृत्यु देखी है। यह दोनों ही कभी अधूरे नहीं होते।

न जाने कितने लोग नित्यप्रति अधूरा कार्य छोड़ देते हैं। परन्तु उस अधूरेपन से कुछ मिलता नहीं उन्हें। कोई वृक्ष लगाने के लिए गढ़ा खोदे किन्तु यह अधिक गहरा न खोदा गया हो और उस अधूरे गढ़े में पौधा जमा दिया गया हो तो वृक्ष बड़ा होने पर गिर भी सकता है। बहुत से मकान कम गहरीं नींव के कारण भहरा कर गिरते हुए देखे गए हैं।

न कीर्ति मिली न परमात्मा

इसी प्रकार परमात्मा की खोज में चलने वाले अनेक व्यक्ति उस खोज की अधूरी छोड़कर बीच में बैठ जाते हैं। उनमें अनेक तो ऐसे होते हैं जो घर द्वार छोड़कर बन में चले

जाते हैं और वहाँ साधना में मन नहीं लगता तो अधूरी छोड़कर चल देते हैं। इसलिए उन्हें न तो कीर्ति ही मिलती है और न परमात्मा ही।

बहुत तो मंजिल के पास पहुँचकर भी लौट पड़ते हैं। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं होता कि अब लक्ष्य बिल्कुल निकट आ चुका है। परन्तु चलते–चलते उनका धैर्य छूट जाता है। और वे अपने मार्ग की दिशा ही बदल देते हैं।

परन्तु इससे बहुत हानि उठानी होती है। जिस उद्देश्य से घर छोड़ते हैं उसके पूरे न होने की ग्लानि, परिश्रम की थकान और निराशा का वातावरण यह सब मिलकर साधक के साहस को गिरा देते हैं। यह स्थिति भी एक बार मृत्यु से कम नहीं होती। उस स्थिति को न आने का संकल्प पहिले से ही करना चाहिए इससे अच्छा तो यह है कि आप उस कार्य का आरम्भ ही न करें, जिसे अधूरा छोड़ने को विवश होना पड़े।

कोई भी कार्य आरम्भ करते ही उसमें पूरी शक्ति लगा दीजिए। शक्ति के लिए मन योग भी अपेक्षित होता है। बिना मन के किया गया कार्य कभी पूरा हो ही नहीं सकता। मन कहीं और क्रिया कहीं, गाड़ी का एक पहिया पश्चिम की ओर दूसरा पहिया पूर्व की ओर चले तो क्या गाड़ी चल सकेगी?

आप कार्य करने के लिए पूरी शक्ति लगाने का संकल्प लें। मन को उसी से जोड़ने का निश्चय करे और

कार्यक्षेत्र में कूद पड़ें उसका परिणाम आपकी आशा के अनुकूल न हो, यह कैसे सम्भव है।

यदि आपको परिणाम के प्रति शंका है, तो अवश्य ही आपकी प्रक्रिया में कोई कमी है। आप समझ रहे हैं कि हमने पूरी शक्ति लगा दी औ:र मन को भी उसी में संयुक्त कर दिया, किन्तु आपकी वह समझ कुछ भ्रम पर आधारित हो सकती है। यदि आपकी प्रक्रिया आपके सोचे हुए ढंग पर न चले तब तो उसकी और भी पुष्टि हो जाती है।

दृड़ निश्चय में क्रियाशक्ति

आप दृढ निश्चय के साथ कार्यक्षेत्र में उतरते हैं तो आपका वह निश्चय एक शक्ति का रूप ले लेगा और फिर आपके शरीर में विद्यमान अन्य शक्ति को आकर्षित करने लगैगा। ऐसा होने पर आपके भीतर की शक्ति जगने लगेगी और वह आपके कार्य में उतनी ही सहायक होगी, जितनी कि आप किसी दिव्यशक्ति से अपेक्षा कर सकते हैं।

जब भीतर की शक्ति जाग्रत हो जाती है तब बाह्य और आन्तरिक दोनों शक्तियाँ मिलकर एक और एक ग्यारह हो जाती हैं। फिर आपको स्वयं किसी बात की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि वह शक्ति स्वयं ही आपको सम्भालने के कार्य में जुट जाएगी। जब तक वह शक्ति नहीं जागेगी, तब तक हमें अपने कार्य की अधिक चिन्ता हो सकती है।

आन्तरिक जाग्रत शक्ति की तुलना

जब भीतरी शक्ति जाग उठती है, तब मनुष्य की इच्छा एवं उसके कार्य–कलाप की गतिविधियाँ उसी शक्ति के अधीन हो जाती है। उस स्थिति में मनुष्य स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं होगा। इसलिए यह सम्भव है कि जीवन के साथ कुछ नवीन घटनायें घट जाँय। परन्तु वैसा होने पर न तो प्रसन्न होना चाहिए, न घबराना चाहिए। बहुत वार कुछ अनुभव सुखद होते हैं और अनेक बार कुछ कठिनाइयाँ भी सामने आती हैं। साधक को उन सभी का धैर्य और साहस से सामना करना चाहिए।

और बहुत से लोग नवीन घटनाओं की आशंका से ही डरे रहते हैं जैसे शिशु माता के गर्भ में नौ मास रहकर बाहर आता है। तब वह संसार के नवीन अनुभवों को करता है। वे अनुभव उसे विषाद एवं आश्चर्य में डालने वाले होते हैं।

अनुभव होने पर नया कुछ नहीं रहता

परन्तु जब अनुभव दृढ़ होने लगता है तब नया कुछ भी नहीं लगता। वही बालक, जो नवीन अनुभव से घबराता था, उसी के लिए सब कुछ स्वाभाविक हो जाता है। फिर कोई नया अनुभव होता है तो एक बार अस्वाभाविक और फिर स्वाभाविक हो जाता है। फिर उसमें नयापन कुछ नहीं रहता।

प्रसवकाल में प्रायः माताओं को कुछ न कुछ कष्ट होता ही है। जब कष्ट होगा तो मनुष्य उसका अनुभव करेगा

ही। बहुत बार ऐसा कष्ट होता है कि मनुष्य रोने लगता है। उस कष्ट का अनुभव वस्तुतः वही कर पाता है, जिस पर बीती हो परन्तु कष्ट अनुभव होते हुए भी उससे वीतराग बने रहें तो यह एक विशेष स्थिति ही होगी।

आन्तरिक शक्ति का जागरित होने तक साधक सन्तान और माता का, दोनों का ही अनुभव करता है। क्योंकि उस स्थिति में एक नवीन कलेवर होता है, नवीन जन्म होता है। उसमें आगे की जानकारी नहीं होती तो नवीन अनुभव की आशंका से घबराहट भी होगी और पीड़ा भी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नवीन अनुभव में सुख का सम्मिश्रण हो, वरन् दुःख का धीरे–धीरे क्षय और सुख की अनुभूति में वृद्धि होने लगती है।

कुण्डलिनी शक्ति का गुह्य स्वरूप

सर्प ओर कुण्डलिनी में समता

कुण्डलिनी एक ऐसी शक्ति है, जिसके पास अद्वितीय ऊर्जा है। उसके हाथ–पाँव कुछ भी नहीं, तो भी जागी हो तो चुप नहीं बैठी रह सकती। वह यात्रा के लिए तत्पर रहती है।

योगाचार्यों ने उसके आकार का जो चित्रण किया है वह बहुत कुछ यथार्थ है। उन्होंने कहा कि वह सर्प के समान साढ़े तीन कुण्डल लगाये पड़ी रहती है और इसलिए उन्होंने कुण्डलिनी को सर्पिणी की संज्ञा दी है।

पता नहीं, कुण्डलिनी सर्प का प्रतीक है या सर्प कुण्डलिनी का? क्योंकि सर्प के भी पांव नहीं होते तो भी वह चलता है। उसी प्रकार जैसे पाँव न होते हुए भी कुण्डलिनी चलती है, गति करती है।

सर्प जब नहीं चलता, विश्राम करता है, तब कुण्डलिनी मारकर पड़ा रहता है। कुण्डलिनी भी जब चेत में नहीं रहती, तब कुण्डल लगाये पड़ी रहती है। उसके कुण्डल तभी खुलते हैं, जब वह जागरण से गतिवान होना चाहती है। सर्प भी जब चलना चाहता है तो उसका एक एक कुण्डल खुलता जाता है।

परन्तु सर्प कभी कुतुहलवश अपनी पूँछ को पकड़कर बैठता है। जिसमें उसकी पूँछ मुख के निकट तो होती ही है, यह बात दूसरी है कि वह उसे पकड़े अथवा न पकड़े।

सर्प की पूँछ पतली और फन बड़ा अथवा मोटा होता है। कुण्डलिनी भी जब जागकर चक्रों का वेधन करती हुई सहस्रार में पहुंचती है, तो सर्प फन के समान ही फैल जाती है उस स्थिति में पूँछ छोटी ही रहती है, जिसके बल खड़े रहने का अवसर प्राप्त होता है। सर्प भी अपनी पतली पूँछ के बल सरलता से खड़ा हो सकता है। इसमें उसके संकल्प का बल ही प्रमुख होता है। क्योंकि पूँछ में भी कोई अस्थि तो होती नहीं। कुण्डलिनी भी अपनी ऊर्जा के बल पर ही सीधी खड़ी रहती है।

कुण्डलिनी का सभी कुछ सार्थक

और कुण्डलिनी में जो कुछ अपूर्णता है वह सार्थक है। सर्प में भी जो कुछ है वह निरर्थक नहीं। सर्प सामान्यता बहुत भोला होता है, वह कभी किसी से कुछ नहीं कहता किन्तु यदि कोई उसे छेड़ दे तो तुरन्त आक्रमण रूख ले लेता है। फिर यह किसी प्रकार की कृपा या दया प्रदर्शित नहीं करता।

यही बात कुण्डलिनी के विषय में है, वह अपनी ओर से तो बिल्कुल मौन पड़ी रहती है, परन्तु छेड़ देने पर वह भी मौन नहीं रहती और खतरनाक बन सकती है। इसलिए इसके प्रति सदा सतर्क रहना आवश्यक है।

यदि कुण्डलिनी को गलत प्रकार से छेड़ंगे तो ही वह हानिकारक होगी। यदि उसे विधिपूर्वक जगाया जाएगा तो किसी प्रकार का खतरा नहीं है, किसी प्रकार की परेशानी नहीं

है। इसलिए केवल सतर्कता अपेक्षित है।

सर्प की बुद्धि और कुण्डलिनी की बुद्धि तो भण्डार ही है। जागने पर वह चंचल और तीव्र गतिवाली हो जाती है। इसलिए सम्भवतः सर्प और कुण्डलिनी को परम्परा में एक–दूसरे का प्रतीक मान लिया होगा। फिर यदि कुण्डलिनी को प्रतीक बनाया गया तो उसके लिए सर्प से अच्छा प्रतीक कोई हो भी नहीं सकता था।

और जिस युग में कुण्डलिनी को सर्प की उपमा दी होगी उसमें कोई अन्य उपमा समझ में भी नहीं आई होगी। क्योंकि तब का मनुष्य पशु, पक्षी और कीड़े–मकोड़े आदि के अतिरिक्त किसी अन्य उपमा को अधिक उचित समझता भी नहीं था।

सम्भव है कि विद्युत की बात मस्तिष्क में आई हो। वैसे कुण्डलिनी के लिए विद्युत् की उपमा भी कम उपयुक्त नहीं है। किन्तु सर्प में भी विद्युत के समान गुण हैं ही। वह भी जब गतिवान होता है तो कुछ उठा नहीं सकता।

अभी बहुत से व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जिन्होंने सर्प न देखा हो तो ऐसे व्यक्ति कुण्डलिनी के रूप को कैसे समझ सकते हैं। यह तो हो सकता है कि सुदूर भविष्य में सर्प को न देखने वालों की संख्या बहुत बढ़ जाय और लोगों को कुण्डलिनी का स्वरूप जानने में भी कठिनाई उपस्थित हो जाए।

कोई समय होगा जब मनुष्य की सर्प से बहुत निकटता रही होगी उसी समय में जब कुण्डलिनी के आकार के विषय में चर्चा चली होगी, तब लोगों ने समझा होगा कि इससे अच्छा कोई अन्य प्रतीक नहीं हो सकता है।

कुण्डलिनी जागरण और महान परिवर्तन

वही कुण्डलिनी जब जागती है, तब महान परिवर्तन उपस्थित कर देती है शरीर में अनेक प्रकार की ऊर्जायें विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ तो सामान्य जाग्रत रहती ही हैं, क्योंकि दैनिक काम–काज तो उन्हीं के बल पर चलते हैं किन्तु जब विशिष्ट ऊर्जाओं का जागरण हो जायगा, तब तो शरीर का समूचा ढाँचा ही बदल जाना चाहिए।

शरीर बदलेगा तो मन क्यों न बदलेगा? मन तो शरीर से भी पहिले बदल जाएगा। एक व्यक्ति बहुत प्रसन्न है तो उसके पास प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले बहुत से तत्व एकत्र हो जाते हैं। इसी प्रकार अधिक भयभीत अवस्था में भी होता है। परन्तु प्रसन्नता या भय की ग्रन्थियाँ स्थूल शरीर के पास नहीं हैं तो भी अन्य शरीर से प्रभावित होने के कारण वह उस स्थिति में पहुँच जाएगा।

कुण्डलिनी जागेगी तो सर्पप्रथम कुसंस्कारों पर प्रहार करेगी। उसका पहला कार्य चित्त को कांट छांटकर (इधर उध र जाने से रोक कर) ठीक करना है, और मन जब प्रतिबन्धि त होगा तो शरीर को भी प्रतिबन्धित होना पड़ेगा। हो सकता है कि शरीर की विभिन्न धातुओं पर उसका प्रभाव पड़े। हो

सकता है कि शरीर में विद्यमान रक्त कम हो जाय, माँस या मेद घट जाय, यह भी सम्भव है कि अस्थियों में ही कुछ दुर्बलता अथवा दृढ़ता उत्पन्न हो जाय। यह भी हो सकता है कि शुक्र में कमी आ जाए ओर प्रजनन संस्थान उससे प्रभावित हो।

आन्तरिक ऊर्जा की वृद्धि

कुण्डलिनी जागरण का परिणाम आन्तरिक ऊर्जा की वृद्धि के रूप में तो होगा ही, किन्तु बाह्य ऊर्जा की वृद्धि में ह्रास अथवा वृद्धि प्रतीत हो सकती है। इसका प्रभाव एक नवीन शक्ति के रूप में प्रकट होगा। परन्तु शरीर की गति में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ सकता उसमें आवश्यकता के अनुसार रक्त, माँस, मज्जा, मेद, शुक्र आदि अवश्य विद्यमान होंगे।

कुण्डलिनी का जागरण शरीर की ऊष्मा बढ़ा देता है और वह कुछ अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि जितनी भी ऊर्जायें हैं वे सभी गर्मी की वृद्धि करती हैं। उसका कारण उनमें गति का होना या शक्ति का होना तो है ही अग्नि का भी समावेश रहता है।

और कुण्डलिनी को तो अनेक विद्वान् अग्नि का ही प्रतीक मानते हैं। उदर में जहां अग्न्याशय विद्यामान रहता है, उसी के निकट कुण्डलिनी का स्थान है। इससे स्पष्ट है कि उसमें गर्मी भी अधिक होनी चाहिए।

इसीलिए जागी हुई कुण्डलिनी एक बार तो तपे हुए लोहे के समान प्रभावित करती है। जब वह ऊपर की ओर उठती है तब उसकी पहुँच वैसी ही होती है, जैसे जलती हुई लपटों की। जब लपटें ऊँची उठती हैं तो उनकी पकड़ में जो कुछ आ जाता है, वही जल जाता है।

इसी प्रकार ऊपर उठती हुई कुण्डलिनी की परिधि में जो कुछ आता है, वह यदि उसके प्रतिकूल अथवा जलनशील है तो जलेगा ही उसमें रस भी हो सकता है और माँस भी। इसी कारण स्थूल शरीर में रूखेपन का अनुभव होता है। परन्तु यह रूखापन उसे अधिक प्रतीत होगा जो अधिक स्वार्थी, क्रोधी, या ईर्ष्यालु रहा होगा जिसके चित्त में घृणा अधिक जाग्रत रही होगी। परन्तु जिसके मन में प्रेम, परमार्थ एवं लोक कल्याण के भाव रहे होंगे, उसे रूखेपन का अनुभव अधिक नहीं होगा। क्योंकि उसके भीतर तो वह स्निग्धता विद्यमान है, जो कभी शुष्क नहीं होती ऐसे व्यक्ति को कुण्डलिनी जागरण से किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव में नहीं आयेगी। इसलिए साधक को कुण्डलिनी जागरण से पहिले ही अपने को उसके अनुकूल बना लेना चाहिए।

कुण्डलिनी योग और चित्त परिवर्तन की क्रियायें

दिनचर्या में सुधार

कुण्डलिनी को जगाने की साधना का नाम ही कुण्डलिनी योग है इसके लिए कुछ ऐसे प्रयत्न आवश्यक होते हैं, जिनके द्वारा चित्त वृत्ति में अपेक्षित परिवर्तन आ सके। क्योंकि सौम्यवृत्ति वाले मनुष्य को कुण्डलिनी जागरण से होने वाले आकस्मिक कष्ट कभी नहीं होते।

इसके लिए दिनचर्या में सुधार आवश्यक होता है। जिन उपायों से शरीर और मन की शुद्धि हो सकती हो, वे अवश्य करने चाहिए योगीजन इसी उद्देश्य से सर्वप्रथम यम–नियम की व्यवस्था करते हैं षटकर्म या षटसाधन का उद्देश्य भी प्रायः यही है।

अष्टांग योगी यम–नियम पालन में अभ्यस्त होने के साथ साथ आसनों और मुद्राओं का भी अभ्यास करते हैं। परन्तु कौन सा आसन अनुकूल है इसका निर्णय अभ्यास करने वाले साधक की प्रवृत्ति और शारीरिक अवस्था के अनुसार ही करना लाभकर हो सकता है।

यदि अनुकूल आसन और मुद्रा का चुनाव किया जाए तो किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। शरीर को स्वस्थ और मन को सुदृढ़ बनाने वाली अनेक मुद्रायें हैं जिनमें से किसी का भी आश्रय लेकर अभ्यास कर सकते हैं।

बाह्य दृढ़ता भी आवश्यक नहीं

आन्तरिक परिवर्तन को सहन करने के लिए शरीर की बाह्यरूप से दृढ़ता आवश्यक होती है जिसकी सम्भावनायें आसनों और मुद्राओं के अभ्यास से बहुत कुछ हो सकती है। कुण्डलिनी की यात्रा यद्यपि भीतर से आरम्भ होती है तो भी बाहर से जो कुछ किया जा सकता है उसे करते रहना चाहिए।

हो सकता है कि बाहर से जो कुछ किया जा रहा है, वह भीतरी परिवर्तनों में सहायक सिद्ध हो सके। इसलिए वह प्रयत्न करना हितकर ही होगा जिसके द्वारा शरीर को कुण्डलिनी की तीव्रता एवं ऊष्मा सहन करने के योग्य बनाया जा सके।

मन का संयम

योग क्रियायें मन को संयमित करने में बड़ी सहायक होती है। यदि मन संयमित है तो ध्यान में एक निश्चित आकृति उभर का स्थित रह सकती है। किन्तु यदि मन में चंचलता है वह ध्यानावस्था में भी अनेक आकृतियाँ बनाने लगेगा।

आन्तरिक भाव मुख पर उभर आते हैं। यदि आप प्रेम में मग्न हैं तो मुख पर प्रसन्नता के भाव व्यक्त होंगे और क्रोध में होंगे तो चेहरा तमतमा उठेगा। बहुत बार देखते हैं कि क्रोध के समय नेत्र लाल हो उठते हैं, मुख पर भी लाली दौड़ जाती है, मुट्ठियाँ बंध जाती हैं और दांती भिंच जाती है। घृणा के

भाव तो आँखों से ही टपकने लगते हैं। मनुष्य लज्जित होता है तो नेत्र झेंप जाते हैं और मुख पर लाली भी दौड़ जाती है।

यहाँ भावानुसार मुख का विवेचन अमीष्ट नहीं। फिर भी यह कह देना आवश्यक है कि मन में जैसे भाव उत्पन्न होते हैं, ये मुख पर उभरे बिना नहीं रहते। कभी–कभी हाथ–पाँव आदि अंग भी उन भावों का साथ देते हैं।

इस प्रकार स्थूल शरीर भाव शरीर के भावों को व्यक्त करने में एक माध्यम का काम भी देता है। उसकी सभी हलचलें भीतरी क्रियाओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाए तो शरीर को भी बहुत से परिवर्तन के योग्य बनाया जा सकता है।

जब कुण्डलिनी जागती है तब ऊपर चढ़ने के लिए मार्ग की अपेक्षा होती है। उस समय शरीर को उसके अनुकूल बनाना होता है क्योंकि उसे ऊपर चढ़ने के लिए बहुत से आड़े–तिरछे मोड़ लेने पड़ सकते हैं। वैसे मोड़ लेने के पहिले कभी आवश्यकता ही नहीं हुई। उसकी ऊर्ध्व गति का प्रभाव मेरूदण्ड पर भी पड़ सकता है और अन्य आंतरिक अवयवों पर भी। इसलिए शरीर को उन विशेष स्थितियों के लिए अपने को तैयार रखना चाहिए।

और वैसी अनुकूलता प्राप्त करने के लिए यम, नियम, षट्कर्म आसन, प्राणायाम, आदि का अभ्यास किया जा सकता है। यह सभी अभ्यास ध्यान–साधना में बहुत सहायक हो सकते हैं। और एक तथ्य कि कुण्डलिनी को

जगाना है तो ध्यान को सुदृढ़ करना होगा। अष्टांग योग के आचार्यों ने छः स्थितियों को पार करने के पश्चात् सातवें अङ्ग के रूप में ध्यान का उपदेश किया है। ध्यान के वाद तो अन्तिम अङ्ग समाधि ही है।

ध्यान साधना में जागृति

परन्तु ध्यान साधना में जागृति चाहिये, होश चाहिए, साधक निद्रित या मूर्छित न हो जाय, वह आलस्य में न आ जाए। क्योंकि आलस्य में आ गया तो ध्यान–साधना में व्यवधान उपस्थित हो जायगा। आलस्य, निद्रा, मूर्च्छा आदि की स्थिति में ध्यान–साधना बनती ही नहीं।

यदि कोई मनुष्य लेटकर ध्यान करने लगे तो उसे निद्रा आ सकती है। यदि बैठकर ध्यान करे तो भी आलस्य आ सकता और ध्यान की प्रक्रिया में बाधा खडी हो सकती है। किन्तु यदि खड़ा रहकर ध्यान करे तो आलस्य, निद्रा, मूर्च्छा आदि की सम्भावना बहुत ही कम होगी।

ध्यान के दो भाग

ध्यान के दो भाग हैं– एक सम्मोहन और चैतन्यता किसी ध्यान में विशेष तल्लीनता सम्मोहन की अवस्था ला सकती है, किन्तु खड़े होकर ध्यान करने में तल्लीनता तो बन सकती है, किन्तु निद्रा या मूर्च्छा से बचा जा सकता है। क्योंकि खड़ा रहने के कारण सोने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है।

उसका दूसरा भाग है जागरण अथवा सजगता। जिसका ध्यान किया जाय, उसके दर्शन की इच्छा से सजगता का प्रयत्न बहुत आवश्यक होता है। यदि लेटकर ध्यान किया जाय तो सजगता कठिन है, खड़े होकर करने में यह बहुत सरल हो सकती है। इससे साधक के साक्षी भाव की रक्षा भी सहज हो जाती है।

आपने अनेक बंगाली भक्तों को देखा होगा– वे 'हरे कृष्णा, हरे कृष्णा आदि कीर्तन करते हुए खूब नाचते, गाते, उछलते, कूदते हैं। उनकी आँखों से आँसू भी गिरते देखे जाते हैं। उनमें से कुछ हँसते भी हैं। कुछ लोग उनकी इस गति को आडम्बर या पागलपन समझते हैं। परन्तु बात वैसी नहीं है उस ध्यान में सम्मोहन और सजगता दोनों ही बनाये रखने का उपाय हो सकता है। अभिप्राय यह है कि ध्यान उस स्थिति में रहकर किया जाए जिसमें सम्मोहन के साथ सजगता भी बनी रहे।

उक्त बात को देखते हुए, साधक को खड़े रहकर ध्यानाभ्यास करना अधिक उपयुक्त है। शरीर पर वस्त्र भी न रहें तो कुछ सुविधा ही रहेगी। इस सबका उद्देश्य यही है कि कोई भी स्थिति और कोई भी वस्तु साधक की साधना में बाध ाक नहीं बननी चाहिए। इस बात का ध्यान रखते हुए यदि ध्यान साधना की जाय, तो जो सफलता योगीजन बहुत वर्षों में भी प्राप्त नहीं कर पाते, वह इस प्रकार करने से कुछ महीनों या दिनों में ही मिल सकती है।

विशिष्ट पुरूषों के प्रति सम्मान भावना

और साधक का यह भी कर्तव्य है कि वह विशिष्ट पुरूषों, गुरू, ऋषि, मुनियों आदि के प्रति सम्मान–भाव रखें। इससे साधना की सफलता में सहायता मिलती है। साथ ही मन में भी पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं।

बहुत बार देखते हैं कि किसी विशिष्ट पुरूष को देखकर हमारा मन स्वतः श्रद्धान्वित हो जाता है, हमारा मस्तक स्वतः झुक जाता है उसके चरणों की ओर। यह सब उसी प्रकार सम्भव होता है, जैसे क्रोध उत्पन्न होने पर प्रतिपक्षी के प्रति हिंसाभाव जाग्रत हो जाता है। विशिष्ट पुरूषों के समान ही तीर्थादि स्थानों के प्रति श्रद्धाभाव रखने का भी यही महत्व है। झुकने से जो कार्य सहज में ही हो सकता है, तनने में वह कार्य बहुत कठिन होता है।

और झुकने का अर्थ यह नहीं कि किसी के कहने से झुका जाए। यदि किसी के कहने भर से झुकेंगे तो मन आपका साथ न देगा और वह झुकना औपचारिक होगा। उसमें किसी प्रकार का हित साधन होने की सम्भावना बहुत कम ही होगी।

वास्तव में झुकना तो वह है जिसके लिए तन स्वयं चाहे। जब मन किसी के पाँवों में गिरने की इच्छा करे तो वह गिरना अवश्य ही सार्थक होगा। ऐसी स्थिति आने पर स्वयं को रोकना भी उचित नहीं है, क्योंकि उस प्रकार के झुकने में कोई आन्तरिक तथ्य अवश्य है।

विशिष्ट पुरूषों के आशीर्वाद

यदि विशिष्ट पुरूष आशीर्वाद दें तो वह भी निरर्थक नहीं होता। अनेक पुरूष अपनी साधना के बल पर सिद्ध बन जाते हैं और उनकी वाणी से जो कुछ निकलता है, वह सत्य होता है। पुराणों में अनेक वृत्तान्त मिलते हैं, जिनमें ऋषियों के शाप और वरदान के प्रतिकूल या अनुकूल परिणामों की चर्चा हुई है।

यही बात सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने के सम्बन्ध में भी है। ऐसे व्यक्तियों में जो तपोबल से शक्ति प्राप्त कर चुके हैं, स्वतः ही बहुत कुछ अर्जित हो जाता है। उनके शरीर में भरी हुई ऊर्जा उनके हाथ–पाँवों की अँगुलियों से प्रवाहित होती है। जब सिर पर हाथ रखा जाता है तो ऊर्जा का प्रवाह उसे अनुग्रहीत कर सकता है।

वैंसे तो अनेक व्यक्ति दूसरों के सिरों पर हाथ फेरते हैं और कोई कोई तो अपना चरण ही रख देते हैं। उनके मतों में चरणों की अंगुलियों या तलुओं में जो प्रवाह रहता है, वह अन्य स्थानों से अधिक प्रभावशाली होता है। किन्तु जिनमें ऐसी शक्ति है, वे कितने होंगे। सम्भवतः अँगुलियों पर गिनने योग्य भर हों।

आशीर्वाद लेने से पूर्व व्यक्तित्व का परीक्षण

किसी का स्पर्शयुक्त आशीर्वाद प्राप्त करने से पहले आश्वस्त होलें कि उसमें वैसी शक्ति है या नहीं? यदि हुई तो

आपको उससे शक्तिं प्राप्त हो सकती है, किन्तु न हुई तो आपकी शक्ति को ही ग्रहण कर ससता है। हो सकता है कि उससे आपको कुछ भी प्राप्त न हो, वरन् अपनी ही गाँठ से गँवा बैठें।

यदि तुम्हें किसी से कुछ लेने की आशा है तो उसके चरणों में अपना सिर इस प्रकार रखे की उसकी अँगुलियां तुम्हारे सिर को स्पर्श कर सकें। ध्यान रहे कि शरीर के नुकीले भागों से ही शक्ति प्रवाहित होती है।यदि मध्यभाग में स्पर्श करोगे तो शक्ति लाभ उतना तो नहीं हो सकता।

किसी को कुछ देना चाहते हो तो उसके सिर पर हाथ या पांव की अंगुलियों से स्पर्श करो। वह भी उस समय जब तुम्हें ऐसा अनुभव हो हाथ में कुछ भार सा है, उससे कुछ निकलना चाहता है और वह स्रवित होने को तैयार ही है। किन्तु उस स्थिति में हाथ को रोक लो, जब देखों कि जिसे तुम देना चाहते हो, वह लेने का इच्छुक नहीं है, वरन् केवल दिखावे के लिए ही लेने का उपक्रम कर रहा है।

सिर पर कपड़ा लपेटकर उपासना का महत्व

अनेक व्यक्ति नंगे सिर रहकर उपासना करना उचित मानते हैं। उनके मत में उपासना में वस्त्र असुविधाजनक रहते हैं। क्योंकि उनसे बाधा पड़ती है, इसलिए यथासम्भव कम से कम वस्त्र रहें अथवा न रहें तो भी ठीक है। विशेषकर सिर को तो खुला ही रखना चाहिए।

इसके विपरीत कुछ का मत है कि उपासना के समय सिर को ढका रखना चाहिए क्योंकि मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से ऊर्जा का बहिर्गमन हो सकता है। आपने मुस्लिमों और सिक्खों को देखा होगा, वे सिर को ढककर ही मस्जिद या गुरूद्वारे में उपासना के लिए जाते हैं।

यही नहीं, अनेक व्यक्ति ध्यान के समय भी सिर ढके रहते हैं। वस्तुतः इसका महत्व भी है। क्योंकि कुण्डलिनी जागती है तो विभिन्न चक्रों का बेधन करती हुई सहस्रार तक पहुँचती हैं। उस स्थिति में सिर बहुत बोझिल हो सकता है और उस स्थिति में उसके बाहर निकलने की भी अधिक सम्भावना रहती है। उसे रोकने के लिए सिर पर कोई वस्त्र बाँधा जा सकता है।

वस्तुतः मस्तक पर पहुँची हुई ऊर्जा के विकीर्ण होने से अधिक अवसर हो सकते हैं। सिर से कपड़ा बाँधकर उसे रोका जा सकता है। एक बात और है वह यह कि यदि नंगे सिर साधना की जाए तो अधिक समय लग सकता है, किन्तु सिर से वस्त्र लपेटकर साधना करने में कम समय लगेगा।

परन्तु मन्दिर –मस्जिद या गुरूद्वारे में सिर से वस्त्र बाँध कर जाना, वस्तुतः परम्परागत ही है। इससे औपचारिकता का निर्वाह तो होता है, किन्तु प्राप्त क्या होता है? बह बहुत समझने की बात है। इसकी निर्भरता मुख्यतः अपनी साधना पर ही निर्भर है।

अध्यात्म में दीक्षा का महत्व

यद्यपि दीक्षा का महत्व तो सभी में है, किन्तु आध्यात्
में इसका महत्व अत्यधिक है। क्योंकि दीक्षा स्वयं में एक अ
यात्म पक्ष की पूरक है परन्तु उसके रूप में विभिन्नता ह
सकती है। यह आवश्यक नहीं कि सभी को समान रूप
दीक्षा का उपयोग हो सके।

लोग कहते हैं कि हमें दीक्षा लेनी है अथवा देने वाल
कहता है कि मुझे दीक्षा देनी है। किन्तु दोनों ही सम्भवतः भ्र
में हैं। न दीक्षा दी जाती है, न ली जाती है। दीक्षा तो घटत
है। नहीं कहा जा सकता कि किस समय घट जाए? इसक
कोई निश्चित अवधि या समय नहीं।

इसीलिए दीक्षा की आशंका वाले व्यक्ति दीक्षा क
घटित होने वाले समय की प्रतीक्षा करते हैं, बहुत दिनों तक
उस व्यक्ति के सान्निध्य में रहने का प्रयत्न करते हैं जिस
मिलने की आशा हो। देने वाला भी नहीं जानता कि वह दीक्ष
किस समय, कितनी अवधि के पश्चात् दे पायगा? क्योंकि
देना उसके अधिकार की बात नहीं।

दीक्षा देने वाला, वस्तुतः देने वाला नहीं, वरन् दीक्ष
का साक्षी मात्र होता है, क्योंकि दीक्षा देने की शक्ति उस
नहीं है। वह शक्ति जिसमें दीक्षा मिल सकती है, परमात्मा क
ही है और वह कारण है कि दीक्षा का अवसर देने वाला स्वय
परमात्मा ही है।

परमात्मा ही सर्वसमर्थ है, उसी को सर्वशक्तिमान कहते हैं। जिसमें शक्ति होगी, वही तो शक्तिपात कर सकेगा जिसमें शक्ति नहीं वह कहाँ से लाएगा शक्ति और किस प्रकार अनुग्रहीत करेगा उस व्यक्ति को जो दीक्षा के लिए लालायित है।

शक्तिपात की तैयारी

और जब गुरू दीक्षा देने के लिए तत्पर होता है, तब वह शक्तिपात की तैयारी करता है, तब यह जान लेता है कि वह जो कुछ देना चाहता है, वह सब परमात्मा का ही अनुग्रह होगा। वह स्वयं तो निमित्त मात्र है, साक्षी बन सकता है, उसका किन्तु दे नहीं सकता। यदि शिष्य को शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वस्तुतः वह एक अद्‌भुत कार्य ही होगा क्योंकि शक्ति की उपलब्धि कोई सामान्य कार्य नहीं है।

और दीक्षा द्वारा शक्तिपात करने वाले गुरू का एक कर्तव्य हो जाता है कि वह शिष्य को उसके योग्य बनाये। क्योंकि योग्य शिष्य ही दीक्षा का अधिकारी होता है किसी अनाधिकारी को कोई ऐसी वस्तु देना जिसका उसे अधिकार नहीं तो दीक्षा का क्या शक्तिपात का भी कोई महत्व नहीं है।

जो व्यक्ति दीक्षा लेने के लिए लालायित है उसे उन क्रियाओं का जो कुण्डलिनी जागरण में सहायक हो सकती हो, पूर्ण अभ्यास कराना चाहिए। इन क्रियाओं में ध्यान की प्रमुखता होनी चाहिए क्योंकि ध्यान एक ऐसी क्रिया है

जिसका उपयोग समस्त उपासना पद्धतियों में किया जाता है। कोई भी उपासना ध्यान के बिना पूर्ण नहीं हो पाती।

परम निर्वाणरूप सातवाँ शरीर

सातवाँ शरीर परम निर्वाण स्वरूप है। निर्वाण का अर्थ है– मोक्ष। वह मोक्ष– जिसे शून्य में विलीन होना कहते हैं। जो शून्यरूप परब्रह्म में विलीन हो गया, उसका पुनरागमन नहीं उसे संसार में फिर कभी जन्म नहीं लेना होता। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि 'जब जब धर्म की हानि होती है, तब–तब मैं उत्पन्न होता हूँ।' बुद्ध ने भी यही बात कही थी 'मैं संसार में पुनः लौटूँगा।'

इसका अभिप्राय यह है कि जो विशेष ऊर्जा सम्पन्न पुरूष होते हैं, वे स्वार्थवश से ऊपर उठकर सदैव परमार्थ की, लोक–कल्याणकारी बात सोचते हैं। वे संसार में बढ़े हुए पापों और दुःखों का निवारण करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर बार–बार लौटकर आवें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सामान्य व्यक्ति भी जब ऊर्जा जागरण के पश्चात् अपने व्यक्तित्व के ऊपर उठ जाता है, तब उसकी विशिष्ट संज्ञा होती है। उस समय वह लोकोपचार का संकल्प भी लेता ही है इसीलिए अपने संकल्प की पूर्ति के लिए वे निर्वाणपद की प्राप्ति होने पर भी पुनः संसार में आ सकते है। अन्यथा जो प्राणी निर्वाणपद को प्राप्त हो गया, उसे आवागमन के चक्र में पुनः नहीं पड़ना होता, यह तथ्य सर्वमान्य है।

गुरु प्रसाद एवं शक्तिपात

शिष्य का अनुग्रहीत होना

गुरु दीक्षा को गुरु का प्रसाद मानते हैं क्योंकि उसमें गुरु के द्वारा शक्तिपात की सम्भावना रहती है। उससे शिष्य अनुग्रहीत हो सकता है। परन्तु आवश्यक नहीं कि दीक्षा के लिए जो समय निश्चित किया जाय, उसमें शक्तिपात हो ही जाए। क्योंकि वह कार्य न तो गुरु की इच्छा पर निर्भर है, न शिष्य की। शिष्य शक्ति से अनुग्रहीत होता है और गुरु उसके लिए माध्यम हो सकता है।

वस्तुतः शिष्य को जिस शक्ति की प्राप्ति सम्भव है, वह गुरु से नहीं, वरन् परमात्मा से होती है। परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की सामर्थ्य ही नहीं। संसार में जो कुछ भी उत्कृष्ट है, वह सब परमात्मा से ही सम्बन्धित है। उसी का ऐश्वर्य है जो इस विश्व प्रपंच में फैला हुआ है।

गुरु को भी जो शक्ति प्राप्त हुई है, वह परमात्मा से ही हुई है। इसलिए वह शक्तिवन्त है। परमात्मा और शिष्य के मध्य वह माध्यम का कार्य करता है। क्योंकि वह शिष्य से अधिक शक्तिवान और प्रतिभावान होता है। वह इस तथ्य से परिचित है कि शक्ति की प्राप्ति किस प्रकार कराई जा सकती है, जबकि शिष्य इससे बिल्कुल अनभिज्ञ होता है।

इस प्रकार जो लोग प्रभु की कृपा चाहते हैं, उन्हें गुरु

की शरण में जाने का निर्देश अनेक शास्त्र इसलिए देते है कि उनकी सहायता से भगवान् की कृपा सरलता से मिल सकती है। यदि कोई चाहे कि वह गुरू की सहायता के बिना ही शक्ति प्राप्त कर ले तो यह सभी के लिए सम्भव नहीं है। कुछ ही व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो विभिन्न कठिनाइयों का सामना करते हुए परमात्मा से सीधा सम्पर्क बना पाते हैं।

शक्ति ग्रहण की अपूर्व स्थिति

परन्तु प्रभु की शक्ति को सीधे ग्रहण करना कभी–कभी कठिनाई का कारण बन सकता है क्योंकि वह स्थिति अत्यन्त अपूर्व होगी, जिसका आभास तक नहीं हो सकता और तभी सहसा शक्तिपात हो जाय तो सम्भव है कि मस्तिष्क उसे सहन न कर सके और उसके फलस्वरूप विक्षिप्तता उत्पन्न हो सकती है। यह भी सम्भव है कि शरीर पर कोई अधिक विपरीत प्रभाव पड़े।

बहुत बार सुखद समाचार का भी विपरीत प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे काण्ड सामने आ चुके हैं, जबकि अत्यधिक प्रसन्नता के कारण हृदय की गति ही रूक गई। एक दरिद्र को लाख रूपए कि लौटरी मिली तो समाचार सुनते ही उछल पड़ा, किन्तु सहन न करने के कारण प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा। एक व्यक्ति के पुत्र का विवाह था, उसे इतनी प्रसन्नता हुई कि पाणिग्रहण संस्कार के समय ही हार्टफेल हो गया।

अत्यधिक हर्ष भी खतरे की घन्टी

सम्भव है कि परमात्मा की कृपा रूप शक्तिपात के

सहसा घटित होने पर मनुष्य को इतना हर्ष हो कि वह बहुत अधिक खतरा उठा बैठै। आप देखते हैं कि बिजली का बल्ब जल रहा है।२३० बोल्ट के करेन्ट पर और यदि कभी करेन्ट आने में अधिक वोल्टेज हो जाता है तो बल्ब फ्यूज हो जाता है। बहुत बार स्विच खुला रहने की स्थिति में सहसा बिजली आ जाती है तो भी बल्ब फुकते देखे गये हैं।

अभिप्राय यह है कि गुरू के निर्देशन के बिना यदि परमात्मा से शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया तो कोई भी असम्भावित दुर्घटना घट सकती है उससे बचाने में गुरू अवश्य ही सहायक हो सकता है और वह ऐसी किसी दुर्घटना से बचा जा सकता है, क्योंकि वह उसके विषय मे पूर्ण जानकर होता है।

खतरा और विशिष्ट उपलब्धियां

आप सोच सकते हैं कि ऐसा है तो मामला बहुत खतरनाक हो सकता है और ऐसा विचार उठते ही आपका आगे बढ़ता हुआ कदम रूकता है। परन्तु यह कोई बुद्धिमानी नहीं कि किसी खतरे के भय से विशिष्ट उपलब्धियों से वंचित रहा जाए।

और इसलिए आवश्यक है कि किसी अहं रहित व्यक्ति को गुरू या माध्यम बना लिया जाय। किन्तु उसमें वे गुण होने चाहिए जिनके द्वारा परमात्मा की ही शक्तिरूप कृपा प्राप्त हो सकती है। यदि वह स्वयं उस विषय का अनुभवी नहीं तो माध्यम बनने के योग्य भी नहीं हो सकता और यदि

वह अहंकार में ग्रस्त है तो भी शक्तिपात कराने में समर्थ नहीं हो सकता।

गुरू को माध्यम बनाने की योग्यता

संसार में गुरू अनेक प्रकार के माने गये हैं। आरम्भ में जो अक्षर ज्ञान दें, किसी प्रकार की लौकिक शिक्षा दे या मनुष्य को कार्य व्यवहार योग्य बनावे, वह गुरू ही कहलाता है। इन गुरूओं के अतिरिक्त एक गुरू वह होता है जो मनुष्य की पारलौकिक उन्नति में सहायक हो और अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान कराता हुआ परमात्मा की कृपा का भागी बना दे। ऐसे व्यक्ति को अध्यात्म गुरू कहते हैं।

आध्यात्म गुरू का बहुत महत्व है। लौकिक विषय क्षणभंगुर कहलाते हैं, उससे सम्बन्धित ज्ञान भी तभी तक सफल है जब तक कि उनकी स्थिति है। किन्तु पारलौकिक विषय नित्य सफल माने जाते हैं। उनका ज्ञान भी नित्य है। इसलिए वैसा कराने वाला व्यक्ति भी विशेष ज्ञान सम्पन्न और अधिक श्रद्धा का पात्र होना चाहिए।

कामना ओर अहं का अभाव

परन्तु ऐसे मनुष्य में कोई कामना नहीं होती, गर्व नहीं होता, वह अपने को भूल चुका होता है, उसमें गुरू बनने की अभिलाषा भी नहीं होती। वह सभी इच्छाओं, सभी वासनाओं से मुक्त हो चुका होता है। इस प्रकार का मनुष्य माध्यम या साक्षी बनने को तो तैयार हो जाता है, किन्तु गुरू नहीं बनना चाहता है। वह जानता है 'गुरू' शब्द का दायित्व लेकर उसे

लौकिक सम्बन्ध बनाने पड़ेंगे क्योंकि 'गुरू' शब्द का प्रयोग शिष्य के सम्बन्ध का बोध कराता है, जिसके कारण उसमें अहंभाव का बने रहना स्वाभाविक है।

किन्तु कोई ऐसा ही विशिष्ट व्यक्ति कहे कि मेरे पास कुछ नहीं है। शक्ति, प्रतिभा, या ज्ञान ज़ो कुछ भी है, ईश्वर प्रदत्त है, इस ज्ञान की प्राप्ति कराने में मैं माध्यम बन सकता हूँ। फिर भी दावा नहीं करता कि शक्तिपात का अवसर प्राप्त होगा ही। वह माध्यम या साक्षी बनना भी इसलिए स्वीकार करता है कि उसका सम्बन्ध लौकिक नहीं, पारलौकिक है।

और ऐसा गुरू, जो स्वयं गुरू नहीं बनना चाहता, अवश्य ही सद्‌गुरू है। उसी को इतनी योग्यता प्राप्त है कि सरलता से परमात्मा का शक्तिवाहन बन सके। भगवान से शक्ति लेकर उस व्यक्ति को दे सके जो उसकी इच्छा करता है।

परमात्मा शक्तिमान है, उस शक्तिमान में जो शक्ति है, उसका सामना कोई कर नहीं सकता। उस शक्ति का कुछ अंश किसी साधक में घटित हो जाए, उसे प्राप्त हो जाए, वही शक्तिपात है, उसी को ईश्वर का प्रसाद या ग्रेस कह सकते है।।

और यह शक्तिपात सभी में नहीं हो सकता।वे ही उसके अधिकारी हैं जो अपने को इसके योग्य बना सके हैं। जिसे इसकी कामना हो, वह पहले इसकी योग्यता प्राप्त कर ले। वह योग्यता एक प्रमाणपत्र की योग्यता नहीं होनी

चाहिए। अनुभव की योग्यता ही इसमें अधिकार की योग्यता है।

आप कह सकते हैं कि प्रमाणपत्र तो उन्हीं को मिलता है जो सब प्रकार से उत्तीर्ण हो चुके हों। परन्तु बात कुछ भी हो, प्रमाणपत्र की योग्यता में और अनुभव की योग्यता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। यहाँ उस अन्तर को अधिक स्पष्ट करना अभीष्ट नहीं है।

सातवें अङ्ग पर पहुँचना अपेक्षित

और अनुभव तभी होगा, जब उसके लिए प्रयत्न किया जायगा अष्टांग योग के सभी अङ्गों पर होते हुए सातवें अङ्ग पर पहुँचा जाय अथवा सीधी छलांग लगा ली जाए वहाँ तक, यह सब तो साधक की अपनी स्थिति पर निर्भर करता है।

उस साधक को ध्यानावस्था का अभ्यास करना चाहिए, उसी से कुण्डलिनी जागरण की सम्भावना बनेगी। शरीर के भीतर सोई हुई यह उर्जा जब विराट की ऊर्जा से मिलने को उठेगी तो समाधि की स्थिति सहज सम्भव है। जब कुण्डलिनी जाग उठती है तभी शक्तिपात अथवा ईश्वर की प्राप्ति होती है।

बहुत बार अभिव्यक्तियों में जो कठिनाइयां होती हैं उन्हें दूर करने के लिए भी माध्यम का उपयोग आवश्यक हो जाता है। कभी–कभी साधक को कुछ ऐसा अनुभव होता है कि न जाने क्या हो रहा है, जो पहले कभी नहीं हुआ और उसे

जानने समझने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्कता का अनुभव होता है जो उस विषय में कुछ जानता हो या इतना अनुभवी हो कि साधक की जिज्ञासा को शान्त कर सके।

और यह जब साधक की अपनी संकल्प शक्ति पर भी निर्भर करता है। यदि आपने अपनी उस शक्ति को अधिक दृढ़ कर लिया है तो किसी अभिव्यक्ति या अनुभूति की अपूर्वता से विचलित नहीं होगे। बहुत बार आप स्वप्न देखते हैं उनमें कुछ ऐसा भी होता है जो अपूर्व हो, अनदेखा हो, विस्मय में डालने वाला हो। उसे देखते समय आप डर भी सकते हैं, व्याकुल भी हो सकते हैं और प्रसन्नता से उछल भी सकते हैं।

किन्तु स्वप्न टूटने पर सब कुछ सामान्य हो जाता है। जानते हैं कि ऐसा तो घटित होता ही रहता है। जिज्ञासा होती है किसी विशेष दृश्य के प्रति किन्तु कुछ समय में वह भी दूर हो जाती है।

विशेष अभिव्यक्तियों से घबरायें नहीं

यदि साधनाकाल में विशेष अभिव्यक्तियाँ होती हैं तो वे भी घबराने, रोने हंसने आदि का कारण हो सकती हैं। किन्तु स्वप्न के आश्चर्य से इस आश्चर्य में भिन्नता होती है। स्वप्न मिथ्या होते हैं, प्रायः बीते हुए अनुभवों के प्रतीक अथवा सोची हुई बातों का कुछ साकार रूप। परन्तु साधनाकाल के अनुभव मिथ्या नहीं होते। वे आत्मोत्थान के मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं, वे परमात्मा की ओर जाने का मार्ग खोल सकते हैं, वे परमात्मा का प्रसाद प्राप्त होने में भी कारण बन सकते हैं।

और वह सब होते हुए भी यदि किसी सद्‌गुरू का सहारा मिल जाय तो जिसकी कामना की है, वह मिल सकता है। जो कुछ चाहा है, उसके अनचाहे होने की आशंका दूर हो जाती है। मार्ग में आने वाली बाधायें भी समाप्त हो जाती हैं।

यदि साधक सद्‌गुरू का सहारा प्राप्त करले तो भी उसे साधना में स्वावलम्बी बनना चाहिए क्योंकि साधक की स्वयं की क्रियाशीलता ही उसे सर्वतोन्मुखी बना सकती है। इसीलिए बड़े–बड़े विद्वान् समय–समय पर कहते रहे हैं कि 'परिश्रम के बिना कुछ नहीं हो सकता। अपने मरे बिना तो स्वर्ग भी नहीं दीखता।'

और ऐसा कहना कुछ अतिश्योक्ति भी नहीं है। जो कुछ बोयेंगे वही तो काटंगे। संसार कर्मभूमि है– इसमें अपने आगे आने वाले को कुछ करने पर ही प्राप्त हो सकता है; चाहे लौकिक मार्ग में हो अथवा पारलौकिक में।

स्त्री-पुरूष की भिन्नता

शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरूष की बनावट में पृथकता तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देती है। परन्तु लैंगिक परिवर्तन की क्रिया जो कि प्राचीनकाल से ही चली आती हैं, इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि पुरूष चाहें जब स्त्री बन सकता है और स्त्री चाहे जब पुरूष हो सकती है। वर्तमान समय में ऐसी घटनायें आए दिन सुनने पढने में आ रही हैं।

न जाने कितने पिताओं ने माताओं का रूप धारण कर लिया और न जाने कितनी मातायें पिता बन गयीं। इससे

यह स्पष्ट हैं कि स्त्री पुरूष का भेद (लैंगिक भेद) तभी तक है जब तक कि शरीर को उस स्थिति में रहना पड़े। वेद, शास्त्र, उपनिषद आदि ग्रन्थ तो इस तथ्य को न जाने कब से गा–गाकर कह रहे हैं कि आत्मा का कोई लिंग नहीं, कोई जाति नहीं, कोई आयु नही। वह न स्त्री है, न पुरूष, न ब्राह्मण है, न अब्राह्मण, न बालक है न वृद्ध है। यह तो शाश्वत एवं अमर–अमर तत्व है जो सदैव एक सा रहता है। न वह बालक होता है, न उसमें बुढापा आता है। सदैव समान रहने वाले तत्व में परिवर्तन होगा भी कैसे? इसी कारण परमात्मा का ध्यान करते समय भी स्त्री या पुरूष का कोई भेद नहीं रहता। अनेक भक्त कवियों ने तो अपने में स्त्रीभाव और परमात्मा में पतिभाव मानते हुए काव्यगत रचनायें की हैं। वृन्दावन के एक भक्तकवि 'चन्द्रमुखी' नाम से कविता किया करते थे। उनके भजन आज भीं बहुत लोकप्रिय हैं।

इस प्रकार भगवान के ध्यान में सभी स्त्री पुरूष समान हैं क्योंकि सभी के अन्तर में नवीनता की उत्पत्ति होती है और जहाँ उत्पत्ति हो, वहाँ माता को ही मान्यता दी जाती है, पिता को नहीं। इसींलिए सब माता ही बन जाते हैं।

साधना की वैयक्तिक अनुभूति

साधना की अनुभूतियां विभिन्न प्रकार की होती है– किसी को कम, किसी को अधिक, किसी को कष्टप्रद तो किसी को सुखदाय इसीलिए कोई साधक अधिक आत्मविभोर हो जाता है तो कोई कम, कोई रोता है तो हंसता है। किसी के नेत्रों में ही आंसू दिखाई देते हैं तो किसी के मुख पर ही

मुस्कान फैलकर रह जाती है।

किसी किसी की हंसी तो ऐसी होती है कि देखने वाले लोग चौक पड़ें। बिल्कुल वैसी हंसी जो कोई पागल मनुष्य हंसता है। रोना भी ऐसा न जाने क्या हो गया हो। इन साधकों में अनुभवों की विभिन्नता एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

आप पूछ सकते हैं कि एक ही प्रकार का साधन समान समय में करते हुए भी अनुभवों में भिन्नता क्यों होनी चाहिए? इसका कारण स्पष्ट है– शारीरिक और मानसिक रूप से सभी समान नहीं होते, इसलिए साधना में भी उनमें तन–मन का योग एकसा नहीं हो पाता और उस स्थिति में भिन्नता होना भी आवश्यक है।

मन की स्वेच्छाचारिता

इस विषय में एक अनुभवी सन्त से चर्चा हुई उनका मत था कि मनुष्य के विचारों में अन्तर रहता है। कोई कुछ सोचता है तो कोई उसमें भिन्न कुछ और साधना की बहुत कुछ निर्भरता मन पर ही है और मन आपकी सुनता नहीं जो चाहता है वही करता है। कोई रोकना चाहे तो रूकता भी नहीं। बहुत बार तो ऐसा देखा जाता है कि जितना अधिक रोको उतना ही हाथ से निकल कर भागता है।

किसी का मन परिवार में फंसा है कोई प्रेमिका के पीछे फिरता है तो कोई पुत्र, बन्धु आदि के पीछे। कोई धनमद में मतवाला है और धन की अधिक चाह में लगा है। कोई मद्य के नशे में रहकर भी वेसुध रहा आता है। कोई सुयश चाहता

है और कोई पद की ही कामना करता है। इस प्रकार मन की गति का प्रकार ही भिन्न है। तब साधना का अनुभव ही एक जैसा कैसे हो सकता है।

यह तो हुई मन की कुछ थोड़ी–सी चर्चा। अब तन अथवा शरीर की स्थिति पर विचार कीजिए। जो कोई अधिक बलवान और अधिक बैठने का अभ्यासी है तो वह अधिक समय तक ध्यान लगाये रह सकता है। उसके द्वारा किये जाने वाला ध्यानाभ्यास भी कुछ अधिक और साहसपूर्ण ढंग का टिकाउ तथा सत्य की खोज करने वाला होगा और तब उसका अनुभव भी वैसा होना चाहिए।

शरीर स्वस्थ न होने की स्थिति में अधिक समय तक साधनारत रहना कठिन होगा। वरन् रोगोद्वेश या पीड़ा के कारण साधना में मन न लगे तो भी कोई आश्चर्य की बात नही। इसी प्रकार के और भी अनेक कारण हो सकते हैं, जो अनुभव की भिन्नता प्रत्यक्ष करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि अनुभूतियों की विभिन्नता स्वाभाविक है। सभी के अनुभव समान कदापि नहीं हो सकते। इस कारण ध्यानादि में देर सवेर या असफलता भी देखी जा सकती है।

साधना में अनुभूतियों की गोपनीयता

यही कारण है कि विभिन्न साधकों को अपने–अपने अनुभव गोपनीय रखने का निर्देश दिया जाता है। मान लीजिए किसी को किसी कारण वश कोई अनुभूति नहीं हुई और वह अनुभूति करने वाले साधक की बात सुने तो उस पर

कठिनता से ही विश्वास करेगा वरन् हो सकता है कि वह अनुभूति की बात को ही मिथ्या कहने लगे।

उस मिथ्या बताने वाले की बात का प्रभाव, जिसे अनुभूति होती है, उस पर भी पड़े बिना न रहेगा। वह सोचेगा कि कहीं मैं ही तो भ्रम में नहीं हूँ और उसका इस प्रकार से सोचना अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न कर देगा।

इसी प्रकार जिस किसी को सुखद अनुभूति हुई हो, वह किसी अन्य साधक की दुखद अनुभूति को सुने तो आश्चर्य ही करेगा और इस प्रकार दुःखद अनुभूति वाला साध ाक सुखद नअुभूति का बात सुन कर उस पर अविश्वास ही करेगा। इसके फलस्वरूप एक प्रकार का भ्रम, एक प्रकार का अविश्वास फैलने लगेगा और यह अविश्वास उन्नति की ओर बढ़ते हुए साधक को भी अवनति की ओर धकेल सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कोई भी साधक अपने अनुभव दूसरे के प्रति न कहे।

साधना का यह नियम सभी साधकों को मानना चाहिए। कोई मित्र को भी परस्पर अनुभव के विषय में न बताए, यहां तक कि पति–पत्नी भी एक दूसरे से इसकी चर्चा न करें। ऐसा होने पर ही सफलता सुलभ हो सकती है।

साधक को मौन की आवश्यक्ता

साधना में मौन की एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्रिया है। कुछ लोग मौन का अर्थ 'मन में ही रमना' कहते हैं। क्योंकि बोलने पर मन में रमण नहीं हो पाता। वाणी जिस विषय पर

बोलना चाहती है, मन को भी उसमें सहयोग देना होता है।

हम अनेक मौनी बाबाओं को देखते हैं। बे बिना बोले ही अपना काम चला लेते हैं। उनके वार्तालाप की क्रिया स्लेट–पेंसिल या कागज आदि के माध्यम से चलती है। एक मौनी बाबा का मत था कि बिना मौन रहे ध्यान में तन्मयता ही नहीं आती। यदि मौन रहने का अभ्यास न किया जाए तो साध ाना में अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। यही कारण था कि सदा के लिए मौन धारण का व्रत लेना पड़ा।

एक महात्मा ऐसे भी मिले जो मुख्य रूप से केवल भगवान् का ही नाम लेते थे। नाम के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द उनके मुख से नहीं सुना जाता था जब उन्हें हाँ या न भी कहना होता तो संकेत से ही कहते थे।

इसलिए आवश्यक है कि मौन रहने का अभ्यास किया जाए। अभ्यासार्थ एक सप्ताह का, पांच दिन का अथवा तीन दिन का मौन रखना चाहिए। इतना न हो सके तो एक दिन का मौन रखें। प्रति सप्ताह एक दिन का मौन रख लिया जाया करे तो भी बहुत कुछ काम चल सकता है।

यदि वह भी न हो तो साधना के अभ्यासकाल में तो मौन रखना ही चाहिए। उस स्थिति में कोई भी साधक परस्पर में बोलने का प्रयत्न न करें। बोलने से तन्मयता भंग होती है। साधनाकाल से अन्य समय में भी कम से कम बोलना चाहिए।

संक्षेप में कहने का अभ्यास

साधकों को अभ्यास करना चाहिए कि वे जब जो कुछ कहना–सुनना चाहें, संक्षेप में ही कहें–सुने। इतने संक्षेप में जैसे कि तार की भाषा में बात कर रहे हों। आप जानते हैं कि तार में कम से कम शब्द लिखने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि शब्द जितने कम होंगे, उतना ही पैसा बचेगा। अधिक शब्द लिखने पर अधिक मूल्य देना होता है। वहाँ तो एक एक शब्द का मूल्य है।

संक्षेप में बात करने से समय भी व्यर्थ नष्ट नहीं होता। फिर जो लम्बी बात होती है, उसका ध्यान रहना कम सम्भव है। जबकि छोटी बात बहुत समय तक याद रहती है। हमारे दर्शनकारों ने अपने–अपने दर्शनों की रचना सूत्रों के रुप में की थी। सूत्र का अभिप्राय है संक्षिप्त बात अथवा जो कुछ कहना चाहते हैं, उसका सार।

अकेले रहने का महत्व

मौन के अभ्यासार्थ अकेले रहना अधिक अच्छा है। यदि यह संभव नहीं तो अधिक समय एकान्त स्थान में व्यतीत करने से ही कार्य चल जाता है। इसलिए प्राचीनकालीन संन्यासी, सन्त–महात्मा या सिद्धपुरूष अकेले ही रहना पसन्द करते थे। उनके मत में संग ही भवबन्धन, जन्ममरण का कारण है इसलिए असंग रहने से ही कारण हो सकता है।

एक लोकोक्ति भी बन गई है, 'एक अकेला, दो का मेला। उस दो के मेले से बचना ही विषयों से वचना है। यदि

आत्मा का उत्थान चाहते हो तो भीड़ से बचो–ऐसा अनेक पुरुष संकेत करते आए हैं। दो साथ रहेंगे तो क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या का भी आरम्भ हो सकता है। अकेला रहे तो किससे लड़ेगा और किस पर क्रोध करेगा?

जहाँ अनेक साधक एक साथ बैठकर साधना का अभ्यास करते हों, उन्हें अभ्यासकाल के पश्चात् एकान्त सेवन करना चाहिए। इससे चित्त में स्थिरता आती और वाणी में भी मौन का अभ्यास बढ़ता है।

इन्द्रियों को विश्राम दें

साधना में विराम का बड़ा महत्व है योगियों का कहना है कि परिश्रम उतना ही किया जाए जितने में शक्ति क्षीण न हो। हम अधिक देर आँखों से काम लेते हैं तो उन पर जोर पड़ेगा ही। अधिक देर बातचीत करने में वाणी पर जोर पड़ेगा और कानों पर भी। तब क्या आप समझते हैं कि उसमें शक्ति का क्षय नहीं होगा?

हमारा अभिप्राय यह नहीं कि आवश्यक कार्य न किए जाए या देखने–सुनने बोलने का कार्य हम स्वयं न करके किसी दूसरे से करायें। हमारा मन्तव्य इतना ही है कि नेत्र से उतना ही देखें जितना आवश्यक हो, वाणी और श्रोता का भी उतना ही प्रयोग करें, जितने से काम चल सकता है।

कहीं चल रहे हैं तो नेत्रों को विस्फारित न रखें, उन्हें अधखुले रखने का प्रयत्न करें, क्योंकि मनुष्य के चेहरे को जितना अधिक देखेंगे उतने ही थकेंगे। बनावटी शोभा नहीं

होती, शोभा तो प्राकृतिक ही हितकर होती है। इसलिए वृक्षों को देखें, नदी या समुद्र को देखें अथवा आकाश को देखें। इन्हें देखने से मन में शान्ति तथा एकाग्रता उत्पन्न होगी। किसी प्रकार के विपरीत विचार उत्पन्न नहीं होगे।

मार्ग, गली एवं भीड़–भाड के स्थानों में केवल इतना देखें कि चलने में किसी प्रकार का व्यवधान न पड़े। दृष्टि नाक के अग्रभाग पर अधिक रहे सके तो और भी अच्छा है।

दृष्टि पर नियन्त्रण रहे

नेत्रों कानों आदि को विश्राम देने के लिए यह भी आवश्यक है कि नाटक, सिनेमा, खेल आदि न देखें, व्यर्थ की पुस्तकें एवं समाचार पत्र आदि न पढ़े, रेडियों टेलीविजन से भी बचें। कोलाहल भरे स्थान में कदापि न ठहरें।

रात्रि में समय पर सोवें और स्वप्न लेने से बचें। आप कहेंगे कि स्वप्न तो स्वतः आते हैं। मनुष्य उससे कैसे बच सकता है? परन्तु तथ्य यह है कि स्वप्नों का सम्बन्ध मनुष्य के मस्तिष्क से है। वह जो कुछ सोचता–विचारता, देखता–सुनता अथवा वार्तालाप करता है, उसकी छाप मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रहती। जब वह सो जाता है तब उसके ही विचार आदि किसी न किसी रूप में स्वप्न का दृश्य बन जाते हैं।

शक्ति जितनी बचाई जा सके, बचानी चाहिए। ध्यान में यही शक्ति सहायक होती है। शक्ति का क्षय होता है तो ध्यान में चित्त नहीं लगता बहुत से व्यक्ति कहते सुने जाते हैं कि क्या करें? साधना में मन ही नहीं लगता?

परन्तु मन लगे भी कहां से? शक्ति ही नहीं तो मन भी उखड़ा–उखड़ा रहता है क्योंकि शक्ति और मन का परस्पर में गहरा सम्बन्ध है। आप शक्ति का अकारण ही क्षय कर चुके हैं, इसलिए साधना भारी पड़ती है।

श्रम की स्थिति में शवासन

प्राचीनकाल के योगियों ने भी इसका अनुभव किया था। यद्यपि वे आसनादि के द्वारा जो योगाभ्यास करते थे, उसमें परिश्रम अधिक था, किन्तु विश्राम के लिए उन्होंने एक आसन ही चुना था जो कि 'शवासन' के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी अनेकों (योगी आदि भी) अनेक प्रकार के आसनों का योगाभ्यास करते हैं, किन्तु उनसे होने वाली थकान से बचने के लिए अन्त में शवासन का ही आश्रय लेते हैं।

अभिप्राय इतना ही है कि हमें शक्ति का निरर्थक व्यय नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों से कम काम लेकर हम शक्तिक्षय से बहुत कुछ बच सकते हैं। परन्तु इसका भी अभ्यास करना आवश्यक है। बिना अभ्यास हम किसी भी प्रक्रिया को नियमित नहीं कर सकते।

और जब कोई प्रक्रिया नियमित नहीं हो पाती, तब उद्देश्य पूरा होने से बड़ा व्यवधान उपस्थित हो सकता है। जितना सम्भव हो उससे बचने के लिए हमें पहले से ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।

साधना विधि की प्रारम्भिक क्रियायें

१. नास्त्रिका प्राणायाम

हठयोग प्रदीपिका (द्वितीय उपदेश के अनुसार--

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
पद्मासन भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्।।५६
सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदर सुधी।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राण घ्राणेन रेचयेत्।।६०
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
बेगेन पूरयेच्चापिहृत्पद्मावधि मारूतम्।।६१
पुनर्विरेचतेत्तद्वत्परयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहाकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते।।६२

दोनों पाँवों के तलुओं को दोनों जंघाओं के ऊपर स्थापित करके बैठे तो यह सभी पापों का नाश करने वाला पद्मासन होता है। भले प्रकार पद्मासन बांधकर ग्रीवा और उदर को समान रखें तथा मुख का संयम करके नासिका के एक रन्ध्र से प्राण का रेचन करें। जैसे शब्द करता हुआ, प्राण, हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे और वेग पूर्वक हृदय कमल तक वायु को पूरित करें। तत्पश्चात् वायु का रेचक बार–बार वैसे ही करें जैसे लुहार धौंकनी को चलाता है।।५६–६२।।

पद्मासन लगाकर बैठने के पश्चात् भस्त्रिका कुम्भक होता है। क्योंकि पद्मासन सभी पापों को नष्ट करने वाला है। इसलिए ग्रन्थ ने 'सम्यक् पद्मासन बद्ध्वा' कहकर पद्मासन को ठीक प्रकार से लगाने का उपदेश किया–

तथैव सवशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदाश्रमो भवेद्देह तदा सूर्येण पूरयेत्।।६३
यथोदरं भवत्पूर्णमलिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्तनीभ्यां बिना दृढ़म्।।६४
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडतानिलम्।
वातपित्त श्लेश्महर शरीराग्निविवर्धनम्।।६५

जैसे ही बुद्धिमान, साधक अपने शरीर के विद्यमान वायु का चालन करे और जब श्रम जान पड़े तब सूर्य नाड़ी (पिंगला) से पूरक करे। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य तीनों अँगुलियों से नासिका को मध्य में दृढ़तापूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे और बांई नासिका से रेचक करे। यह प्रयोग, बात, पित्त, कफ का नाशक और जठराग्नि का बर्धन करने तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखदायक और हितकारक तथा ब्रह्मनाड़ी के मुख पर विद्यमान कफादि को नष्ट करता है। जो मात्र नाडी के मध्य में समुदभुत तीन ग्रन्थियों का भेदन करने वाला होने से भस्त्रासंज्ञक यह कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।६३–६५।

जिस प्रकार वायु से उदर पूर्ण हो सके, उसी प्रकार अर्थात् यथाशक्ति सूर्यनाड़ी द्वारा पूर्ण करना चाहिए। पूरक के

पश्चात् अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठका तीनों के द्वारा नासापुट को दृढ़तापूर्वक रोकता हुआ कुम्भक करे। उसमें मध्यमा और तर्जनी को न जगावें। फिर इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए।

वाम नासापुट को दाँये हाथ की अनामिका और कनिष्ठका से रोक कर दांये नासापुट से धौंकनी के समान रेचक, पूरक करके अँगूठे के द्वारा दांये नासापुट का अवरोध कर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर बाँये नासापुट से रेचक करे तदन्तर दांये नासापुट को अंगुष्ठ से रोके और वामपुट से धौंकनी के समान जल्दी जल्दी रेचक पूरक करे। जब उससे श्रम हो तब नासापुट से पूरक करके अनामिका और कनिष्ठ से वामनासा को रोककर शक्ति भर कुम्भक कर दांई नासा से रेचक करे। जिन साधकों को पद्मासन लगाकर अधिक देर तक बैठने से असुविधा हो, वे किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठ सकते हैं।

भस्त्रिका प्राणायाम एक साथ दोनों नासिकाओं से भी किया जा सकता है। इसे कम से कम २७ बार करना चाहिए

२-अनुलोम-विलोम प्राणायाम

दाँई नासिका को दाँये हाथ के अँगूठे से दबाकर बाँई नासिका से श्वाँस को तीव्र गति से बाहर निकालें। फिर श्वाँस को जल्दी से अन्दर भरे। मध्यमा–अनामिका अँगुलियों को मिलाकर वाँई नासिका को दबायें और वाई नासिका से शीघ्रतापूर्वक श्वांस को बाहर निकाल दें। इसके पश्चात् दाँई

नासिका से ही श्वास भरें और बाँई ओर निकालें। इसी तरह से दोनों नासिकाओं से रेचक–पूरक करते रहें। इसे कम से कम २७ बार करें।

३-सहित कुम्भक

दाँये हाथ के अँगूठे से दाँई नासिका को बन्द कर लें। ॐ का ८ बार मानसिक जाप करें। जप करते हुए बाँई नासिका से श्वाँस खींचे अथवा पूरक करें। अनामिका (अँगूठे से चौथी अँगुली) और मध्यमा (अँगूठे से तीसरी अँगुली) नासिका से बाँयी को बन्द करके ओम् का ३२ बार मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करें। इसके बाद ओम् का १६ बार मानसिक जप करते हुए दाँयी नासिका से साँस छोड़े अथवा रेचक करें। इसी तरह से दूसरी नासिका से भी किया जा सकता है।

यह कनिष्ठ कुम्भक कहलाता है। संख्या भेद से मध्यम और उत्तम कुम्भक होते हैं। मध्यम कुम्भक में पूरक १६ से, कुम्भक ६४ से रेचक ३२ से करना है। अर्थात् ओम् का १६, ६४, ३२ बार करके प्राणायाम करें। उत्तम कुम्भक में पूरक ३२ से, कुम्भक १२८ से और रेचक ६४ से करना चाहिए। अर्थात् ओम का १२, १२१२८, ६४ जप करके प्राणायाम करें।

श्वाँस को भीतर खींचते समय भावना करे कि श्वाँस के साथ विश्वव्यापी चैतन्य प्राणशक्ति मेरे भीतर प्रविष्ट हो रहा है। कुम्भक करते समय यह भावना करें कि तेजस्वी प्राणशक्ति को भीतर खींचने से चारों ओर शक्ति का संचार हो रहा है और

मैं शक्ति का पुंज बनता जा रहा हूँ। रेचक के समय भावना करें कि सतोगुणी शक्तियों के आगमन से मेरे पापों का विनाश हो रहा है और श्वाँस के साथ व बाहर निकलते जा रहे हैं। इन पवित्र भावनाओं के साथ किया गया प्राणायाम अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक रहता है। भावना की दृढ़ता पर इसका लाभ निर्भर करता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी इस तत्व को स्वीकार किया है।

साधनाकाल में इस प्राणायाम को २७ बार करना चाहिए। जिन का अभ्यास दृढ़ हो गया हो वे १०८ बार भी कर सकते हैं। साधना के आरम्भ में २७ बार न हो सके तो सुविधानुसार धीरे–धीरे ही बढ़ाना चाहिए। इस प्राणायाम से शरीर में शक्ति सक्रियता और स्फूर्ति बढ़ती है। चेहरे पर एक अनोखी चमक दृष्टिगोचर होती है। इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। मानसिक शक्ति बढ़ती है। ध्यान में एकाग्रता लाने में सहयोग मिलता है और ऊर्जा का विकास होता है।

४-दीर्घ ओंकार ध्वनि

२७ बार दीर्घ प्रणव की ॐ ध्वनि का उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए। यह लम्बी ध्वनि मन को सांसारिक विषयों से मुक्त गंगाजल की भाँति स्वच्छ व पावन कर देती है। भागवत के ओंकार के उच्चारण की विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है, 'दीर्घघण्टानिनादवत्'। घण्टे पर चोटें मारने और छोड़ देने पर देर तक एक लम्बी ध्वनि का अभ्यास होता

रहता है। ऐसे ही एक पूरे श्वाँस में एक बार ओंकार का उच्चारण करना चाहिए।

ओंकार के इस उच्चारण की काकवाणी से भी संज्ञा दी जाती है। ऐसा अनुभव किया गया है कि कौआ जब काँव–काँव करता है तो गुदा तक शब्द का स्पन्दन होता है। उसी तरह आचार्यों का निर्देश है कि ओंकार का उच्चारण दीर्घ घण्टानाद की तरह तो होना ही चाहिए परन्तु उसके शब्दों का स्पन्दन मूलाधार चक्र में उठना चाहिए। इस उच्चारण में साधक की परम श्रद्धा होनी चाहिए। जैसे भगवान् का कीर्तन करते समय साधक मस्ती में झूमता है, वैसे ही यह उच्चारण मस्ती से ओत–प्रोत हो और श्रोता को अत्यन्त कर्णप्रिय लगे। दीर्घ घण्टानाद की तरह ओंकार के उच्चारण की ध्वनि नाभि से आरम्भ होकर कण्ठ की ओर बढ़ती अनुभव हो, ध्वनि के साथ यह भावना करनी चाहिए कि मेरे ओंकार उच्चारण से यह ध्वनि सारे विश्व में फैल रही है और अणु से वह ध्वनि स्फुरित हो रही है। ऐसा लग रहा है कि जैसे सारा विश्व ओंकार का पवित्र उच्चारण कर रहा है, उस विराट् ब्रह्म की उपासना कर रहा है। उस विराट ब्रह्म की उपासना करते–करते विश्व में ओंकार ध्वनि को भरने की भावना से साधक को अपार आनन्द की अनुभूति होती है।

५- लम्बे, गहरे श्वांस के साथ तीव्र ओंकार

श्वाँस लम्बे और गहरे हों उसके साथ उच्च स्वर और तीव्र गति से ओंकार का उच्चारण करना चाहिए। इसे कम से कम २० बार करें। इससे साधना में आशाजनक सफलता मिलने में सहायता मिलती है। इसके बाद इस पुस्तक में निर्देशित कुण्डलिनी योग की साधना विधि का आरम्भ करना चाहिए।

शक्ति जागरण और ध्यान का प्रयोग

वर्तुलकार ववण्डर

अनेक व्यक्ति शक्ति जागरण शब्द से परिचित हैं और कुछ को तो इसका अनुभव भी होने लगा है। जो लोग ध्यान में अभ्यस्त हो चुके हैं, वे इसका अनुभव करते हैं कि शरीर में कोई वर्तुलाकार ववण्डर जैसा उठ रहा है। आरम्भ में उसके कारण कुछ अपच या भारीपन जैसी आशंका होती है, किन्तु धीरे–धीरे यह समझ में आने लगा है कि शरीर में ऊर्जा का जागरण होने लगता है।

परन्तु, जिन लोगों को इतना भी नहीं होता। वे आरम्भ से ही जानने की जिज्ञासा करते हैं। उनके लिए विधि–निर्देश आवश्यक भी होता है। क्योंकि उसके बिना साधना में सरलता नहीं आती, वह कठिन प्रतीत होती है तो मनुष्य साहस छोड़ बैठता है।

पहले यह कह चुके हैं कि सफलता के लिए मन की तन्मयता प्रमुख वस्तु है। यही एक ऐसा उपाय है जो लक्ष्य को प्राप्ति करा सकता है। आप रोयें, गायें, चिल्लायें, लेटें, बैठें या खड़े हो जायें। सभी स्थितियों में मन की तन्मयता बहुत आवश्यक है।

निषेधात्मक वचनों का झंझट

बहुत से विद्वान यह मत करो, वह मत करो आदि निषेध वचनों द्वारा साधक को झंझट में डाल देते हैं जिनसे उनकी साधना में बाधा उत्पन्न हो जाती है। हम कहते हैं कि निषेध के स्थान पर निर्देश अधिक उपयुक्त है। निर्देश द्वारा बताया जा सकता है कि अमुक अमुक कार्य करने से साधना ठीक प्रकार से चलती रह सकती है।

किसी भी स्थिति में रहकर श्वाँस को संयमित करें।श्वाँस गहरी होनी चाहिए। अधिक से अधिक गहरी साँस लें और छोड़ें। अभिप्राय यह है कि श्वाँस–निश्वाँस के गहरी होने में पूरी शक्ति लगा दी जाए। क्योंकि आन्तरिक ऊर्जा का जागरण अधिकतम गहरी श्वाँस पर ही निर्भर है।

अभ्यास की रूपरेखा

गहरी श्वाँस लेने और छोड़ने का अभ्यास दुहरावें। यह अभ्यास दस मिनट करते रहें तो भी कार्य बन सकता है। वस्तुतः यह आपके अभ्यास की प्रथम प्रक्रिया है। सम्भव है– आप जानतें होंगे कि प्रथम अभ्यास में ही कच्चे रहे तो अगले अभ्यासों में भी कच्चे ही रह जायेंगे। विद्यार्थी को देखिए कि यदि वह पूर्व कक्षा में कच्चा रह गया तो उससे ऊँची कक्षा में भी पक्का नहीं हो पाता। नींव ही कमजोर हो तो मकान किस पर स्थायी रहेगा?

जब श्वाँस खींचें तब भीतर की ओर देखें (अन्तर में झाँकें) और जब श्वाँस छोड़ें तब बाहर की ओर नासिका के

अग्रभाग पर दृष्टि रखें। आप देखेंगे कि श्वाँस भीतर जा रही है और बाहर निकल रही है। निश्चित है आप ऐसा करते–करते श्वाँस के प्रविष्ट होने और बाहर निकलने में दर्शक मात्र रहकर आप भूल जायेंगे।

इस क्रिया में आपको अपनी पूरी शक्ति लगा देनी है। यही शक्ति आपके शरीर में विद्यमान ऊर्जा केन्द्र को सक्रिय करने में सहायक हो सकती है। जब ऐसा होने लगेगा तभी ऊर्जा का जागरण हो सकेगा और तभी वह ऊपर को उठने के लिए तत्पर हो सकेगा।

यह सब आपकी गहरी श्वाँस—निश्वाँस क्रिया पर ही निर्भर है। आपको यह क्रिया इस प्रकार करनी चाहिए कि समूचा व्यक्तित्व ही श्वाँस–प्रश्वाँस के साथ कम्पन करने लगे। इसमें जितनी शक्ति लगा सकें बिना किसी उपेक्षा के अवश्व ही लगाते चलें।

अनुभूतियों का आरम्भ

इन दस मिनटों में ही साधक के अंग प्रत्यंगों में क्रियाशीलता आ सकती है। जो लोग अपने को भूलकर केवल श्वाँस–निश्वाँस से गहरेपन में सतर्क रहते हुए क्रिया में पूरा जोर लगा देंते हैं, उन्हें कुछ अनुभूति भी हो सकती है।

एक दूसरे दस मिनट तक आगे का अभ्यास करें। गहरी श्वाँस के साथ ही क्रिया भी की जाती है। परन्तु उस स्थिति में मन जो कुछ करना चाहता है। उसे करने देना होता

है। शरीर हिलता है हिलने दें। खड़ा होने में आराम अनुभव करता है तो खड़े हो जायें। मन हँसना चाहे तो हँसने दें और रोना चाहे तो रोने से भी न रोके। वस्तुतः आपको स्वयं कोई बाधा उपस्थित नहीं करनी है। सब कुछ शरीर और मन पर ही छोड़ देना है।

परन्तु ध्यान फिर भी श्वाँस पर रखना है, वह गहरी से गहरी रहे। शरीर तो एकदम ढीला छोड़ देना होगा, क्योंकि तनाव रखने पर तो कोई भी क्रिया स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं हो सकती और जब तक उसे क्रिया की स्वतन्त्रता न मिलेगी तब तक कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं।

इसलिए मन और शरीर जिधर जाँय जाने दें। उनके कार्य में अवरोध उपस्थित न करें। रोने, हँसने, लेटने, बैठने, चलने आदि की पूर्ण सुविधा उसे दें। आपका ध्यान केवल गहरे श्वाँस निःश्वाँस पर रहना चाहिए। पूरी शक्ति लगाकर गहरी श्वाँस लें और उसी शक्ति के साथ श्वाँस को छोड़ें।

गहरी श्वाँस लेने–छोडने में परिश्रम होता है। बिना परिश्रम से कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता। फिर ऊर्जा को जगाकर क्रियाशील बनाने के लिए विशेष परिश्रम करना पड़े तो आश्चर्य ही कैसा? थकते हैं, थक जाँय, किन्तु परवाह न करें। चेष्टा न करें कि श्वाँस लेना छोड़ना रूके नहीं, उसकी क्रिया निरन्तर होती रहे। इस प्रकार का अभ्यास भी दस मिनट तक करना ही पर्याप्त है। ऊर्जा जागरण की प्रक्रिया में यह दूसरी कड़ी है। दोनों कड़ियाँ दस–दस मिनट में पूर्ण करनी चाहिए।

अब अगले अभ्यास में भी जो कुछ करना है, उसमें गहरी श्वाँस निःश्वाँस की क्रिया तो पूर्ववत् चलती रहेगी। शरीर में गति का रहना भी स्वाभाविक है। यह गति साधक की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है। वह तो स्वतः ही होती रहेगी। उस गति में चलना, बैठना, उठना, लेटना, हँसना, रोना, चिल्लाना आदि कोई भी क्रिया हो सकती है जो कुछ भी होता हो उसे होने देना चाहिए।

अपने पास शेष न रखें

इस समय भी शरीर की पूरी शक्ति लगाए रखनी है। यदि पहली क्रियाओं में कुछ शेष रहा हो तो इस बार उसे अवशेष कर दें यदि भरपूर शक्ति नहीं लगायेंगे तो सम्भव है कि प्रक्रिया भी अधूरी रह जाए। उस आशंका से बचने के लिए अपने पास कुछ भी शेष न रखें।

इस क्रिया में आत्मज्ञान की जिज्ञासा रहती है।साधक स्वयं से ही पूँछता है कि मैं कौन हूँ। वस्तुतः यह प्रश्न तब तक होता रहे जब तक कि शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव आन्दोलित न हो जाए। रग रग यह प्रश्न करती सी प्रतीत हो कि 'मैं कौन हूँ।'

वस्तुतः यह कोई प्रश्न साधारण प्रश्न नहीं है। इसमें सृष्टि का सब रहस्य समाया हुआ है। समूचा अग-जग इस प्रश्न की परिधि में आ जाता है। इसका समाधान अपने आप होने लगता है—आन्तरिक अनुभूतियों के द्वारा। यदि आप अपने अभ्यास में निरन्तर दृढ़ हैं तो समाधान भी सहज है।

आपके श्वाँस की तीव्रता इसके समाधान में पूर्ण से सहायक होगी। तन और मन में तीव्रता रहनी ही चाहि शरीर की गति एक हलचल का रूप भी ले सकती है। य वैसा होनें लगा तो उसे बरबस रोकने का प्रयत्न भी न करना चाहिए।

तीस मिनट की तीन कड़ियाँ

और एक तथ्य, यह प्रश्न ही अपने आप में पूर्ण है इसी में उत्तर भी निहित है। आपको इस स्थिति में कु अनुभूतियाँ भी हो सकती हैं। परन्तु यह होगा तभी, जब आ पूरी शक्ति लगा देंगे। यदि कुछ वाकी रखेंगे तो हो सकता कि सभी कुछ बाकी रह जाए।

यह सब मिलाकर तीस मिनट की तीन कड़ियाँ हुई यदि आप इनका ठीक प्रकार से निर्वाह कर लेते हैं तो निश्च ही कुछ प्राप्त कर सकते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं स कुछ आपके प्रयत्न पर निर्भर है। यदि आपने प्रयत्न में पू शक्ति लगा दी है तो निराशा का कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं

इस प्रकार ३० मिनट में इस अभ्यास के पश्चा विश्राम् की आवश्यकता होती है। विश्राम भी केवल १० मिन करना ही पर्याप्त है। उस तीस मिनट के पश्चात् गहरी श्वाँ छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। केवल स्वाभाविक रूप श्वाँस लेते–छोड़ते रहें।

योगियों ने विश्राम के लिए शवासन की व्यवस्था क

शक्ति
है। व
कुछ
जैसे
नहीं।
है।

लगती
भी क्रि
कर
दें उ
ीरे ध
लेटे

है। वस्तुतः वह स्थिति पूर्ण विश्राम की स्थिति है। आप सब कुछ त्याग कर शान्त से लेटे या बैठे रह सकते हैं। इस प्रकार जैसे कोई निर्जीव प्राणी पड़ा हो। मानो शरीर में प्राण है ही नहीं। यह क्रिया लेटने से अधिक सफलता पूर्वक हो सकती है।

यदि कोई शब्द होता है तो चुपचाप सुनते रहें। हवा लगती है लगने दें, हिचकी आती है, आने दें। आपको किसी भी क्रिया में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं करना है। नेत्र बन्द कर लें, मनको शान्त बना लें, किसी प्रकार का विकार न आने दें उसमें। वह दस मिनट व्यतीत होने पर नेत्र खोलें और धीरे धीरे उठें। यदि और कुछ देर लेटे रहने की इच्छा हो तो लेटे रह सकते हैं।

सावधानी और सुरक्षा

सर्दी के मौसम में तो साधना की गर्मी कुछ देर तक शवासन में लेटने से शान्त हो जाती है परन्तु गर्मी में कुछ देर तक शवासन सम्भावना हो सकती है। अतः साधक को सावधान रहना चाहिए।

शीतली या सीत्कार प्राणायाम

गर्मी के मौसम में कुण्डलिनी अथवा ध्यान साधना के बाद शीतली या सीत्कार प्राणायाम करना चाहिए। शीतली में जीभ को कौए की चोंच की तरह बनाकर धीरे–धीरे वायु को भीतर भरें और उसे यथाशक्ति भीतर रोकें। घबराहट अनुभव हो तो दोनों नासिकाओं से बाहर निकाल दें। धीरे–धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिए। एक घन्टे की ध्यान साधना के बाद २० मिनट तक शीतली प्राणायाम कर लिया जाए तो उपयुक्त रहेगा।

सीत्कार प्राणायाम करते हुए दोनों दन्त पंक्तियों को जोड़ें, ओष्ठों को खोलकर गोलाकार बना लें। जीभ को जुड़ी दन्त पंक्ति के पीछे सिकोड़कर लगायें। इसके बाद दन्त छिद्रों में से श्वाँस खींचे और जल्दी से दोनों नासिकओं से बाहर निकाल दें। इसी तरह से पुनरावृत्ति करते रहे।।

शीतली या सीत्कार दोनों में से किसी एक को सुविधानुसार किया जा सकता है।

जलनेति

जल में मोटी इलायची डाल कर गर्म कर लें इसमें कुछ ठण्डा पानी और नमक मिला लें। टोटीदार लोटे में गुनगुना आधा किलो पानी लेकर नाक से छिद्र में डालकर दूसरे से निकाल दें फिर दूसरे से करें। मुख को कुछ तिरछा रखकर आकाश की ओर देखेंगे तो जल एक नासिका से दूसरी नासिका की ओर आसानी से जाने लगेगा दोनों नासिकाओं से वारी वारी करें। इस रीति से जलनेति करने से ऊर्जा शान्त होती है। जुकाम में यह विशेष रूप से लाभदायक रहता है। जो साधक इसका अभ्यास निरन्तर करते रहते हैं उन्हें कभी जुकाम नहीं होता है।

मुख को बन्द करके नाक से ताजा पानी पीने से भी लाभ होता है। इसमें उपरोक्त विधि की तरह नमक नहीं मिलाना चाहिए। पानी की तरह दूध, घी और बादामरोगन भी पिए जा सकते हैं।

३-कपालरन्ध्र धौति

घेरण्ड संहिता प्रथमोदेशक में इसकी विधि का निर्देश करते हुए कहा है–

वृद्धांगुष्ठेन दक्षेणमार्जवेद् भालरन्ध्रकम्।
एवमभ्यांसयोगेन कफदोषं निवारयेत्।।३४
नालीनिर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने।।३५

टीका– दाँय हाथ के अँगूठे से अपालरन्ध्र का मार्जन करना चाहिए। इसके अभ्यास से कफ–दोष का निवारण होता है। इससे नाड़ी मलरहित हो जाती है। इसका अभ्यास निद्रान्त सोकर उठने पर (प्रातः काल) में भोजनोपरान्त (मध्यान्हकाल) में और दिवान्त अर्थात् सायंकाल में नित्यप्रति करना चाहिए।।३४–३५।।

व्याख्या– खोपड़ी के मध्य में कपालरन्ध्र होता है। इसके द्वारा समूचा शरीर नियन्त्रित रहता है। दाँये हाथ के अँगूठे या अँगुली आदि से कपालरन्ध्र पर मालिश करनी चाहिए। यह सभी साधारण व्यक्तियों के लिए लाभदायक होता है चिकित्सा शास्त्रों के अनुसार मालिश से विशिष्ट प्रकार के तेलों का प्रयोग किया जाना अधिक उपयोगी रहता है।

योगियों के लिए कपालरन्ध्र शोधन का अत्यधिक महत्व है। कुछ अनुभवी योगी कपाल पर जल डालकर हाथ के अँगूठे से रगड़ते हैं। उनके अनुसार बाँये हाथ में जल से भरा हुआ पात्र लेकर कपाल पर डालना और दाँय हाथ से अँगूठे या अँगुलियों से रगड़ना चाहिए। कुछ लोग दाँये हाथ की हथेली का प्रयोग इस कार्य में करते हैं। उनका अनुभव है कि दाँई हथेली का जलयोग से कपालरन्ध्र पर मलने से मस्तिष्क की शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

कुछ लोग नदी के जल में खड़े होकर कपालरन्ध्र शोधन की क्रिया को तीनों समय बहुत देर करते रहते हैं। उनका कथन है कि इससे सम्पूर्ण शरीर शोधन के साथ साथ

ब्रह्मरन्ध्र का शोधन होकर वह बहुत बलवान हो जाता है तथा मस्तिष्क सदैव शीतल और शान्त बना रहता है। ब्रह्मरन्ध्र की शुद्धि योगी को दिव्यता प्रदान करती है। उसे खाँसी, जुकाम, श्वाँस आदि कोई रोग आक्रांत नहीं करता। नाड़ियों का शोधन होने के कारण शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की अपवित्रता दूर हो जाती है।

कुण्डलिनी-जागरण से पूर्ण परिवर्तन

कुण्डलिनी-जागरण और उससे होने वाला खतरा

कुण्डलिनी को शक्ति या ऊर्जा का नाम भी दिया गया है। वस्तुतः वह एक ऐसी शक्ति है जो जाग उठे तो सभी कुछ बदल देती है जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है, वह कुछ का कुछ हो जाता है। उसका पुरातन न जाने कहाँ तिरोहित हो जाता है।

कुछ लोग कुण्डलिनी जागरण एक ख्तरा समझते हैं उनका कहना है कि वह योगियों की एक प्रक्रिया है और वह इसे कर भी सकते हैं कोई दूसरा नहीं कर सकता।

यह भी कहा जाता है कि उससे मृत्यु तक हो सकती है अथवा मृत्यु नहीं होती तो मनुष्य अमर हो जाता है। बात किसी ने किसी रूप में यथार्थ भी है, किन्तु उसके अर्थ दूसरे ही हैं।

वैसे तो जितनी भी योगक्रियायें है, ठीक प्रकार से न करने पर सभी हानिकारक हो सकती हैं किन्तु अनुभवी व्यक्तियों के निर्देश में की जाँय तो उनसे अपेक्षित अनुभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

पुराने व्यक्तित्व की मृत्यु

कुण्डलिनी के जागरित होने पर साधक के पुराने

व्यक्तित्व की मृत्यु हो जाती है और वह नवीन व्यक्तित्व प्राप्त कर लेता है। वह नवीन व्यक्तित्व उसे जिस दिशा में ले जाता है वह कुछ अलौकिकता से युक्त होती है और ऐसा व्यक्ति आत्मोपकार नगण्य समझता हुआ लोकोपकार को भी अधिक महत्व देता है जिसके फलस्वरूप उसकी प्रसिद्धि भी हो सकती है और सम्भव है, वह प्रसिद्धि सुकीर्ति के रूप में सदा बनी रहे यही उसके लिए अमृतत्व की प्राप्ति है और सच्चा अमर हो जाना भी यही है।

और ऐसे खतरे मनुष्य ही सदा से उठाते आये हैं। किसी भी बेडौल रत्न को सुन्दर बनाने के लिए जो काट–छाँट की जाती है, उसमें प्रथम खतरा तो उसका वजन कम हो जाने का प्रत्यक्ष ही है, एक दूसरा खतरा अप्रत्यक्ष भी है– वह काट–छाँट करते समय रत्न के टूट जाने का। यदि टूट गया तो हजारों का रत्न कौड़ियों का भी नहीं रहता।

आपने सुना होगा कि कोयला और हीरा एक ही जाति के होते हैं। कोयला ही कालान्तर में हीरा बन सकता है। परन्तु जब वह हीरा बनता है। तब अपना अस्तित्व खो बैठता है। हीरा बनने पर कोई नहीं जानता कि यह कभी कोयला रहा होगा। इससे स्पष्ट है कि कोयला नष्ट हो गया और उसने नया चोला धारण कर लिया हीरे के रूप में।

हीरे में कोयले का अन्तर्भाव

जैसे हीरा बनाने पर कोयला मिट जाता है, उसका सभी कुछ बदल जाता है, वैसे मनुष्य यदि आत्मोन्नति के मार्ग

में चलता है तो उसे भी अपने को मिटाना होता है। उसकी अज्ञानावरण में ढकी हुई आत्मा उस मार्ग पर चलते–चलते आवरण को बेध डालती है और तब उसका रूप परिवर्तन स्वाभाविक है। एक केले की फली को छिलके सहित देखिये तो उस समय जो रूप दिखाई देगा, छिलके हटने पर एकदम बदल जाएगा उसी प्रकार जैसे कोयला बदल कर हीरा हो जाता है।

और इसी प्रकार कुण्डलिनी का जागरण होने पर मनुष्य भी बदल जाता है। वह अपने उस आवरण को उतार फेंकता है, जिसे साधारण मनुष्य जीवन कहते हैं, किन्तु ज्ञानीजन मृत्यु कहते हैं। उस आवरण का उतारना ही ज्ञानियों के लिए नया जन्म और अज्ञानियों के लिए मरण है। कुण्डलिनी जागरित होने के पश्चात् वाले जीवन में पूर्ण जीवन से यही भेद है। वस्तुतः पहला मनुष्य मर जाता है, किन्तु उसी चोले में नया मनुष्य जन्म ले लेता है।

तो इस खतरे को आप सहज ही समझ सकते हैं। कुण्डलिनी जागती है तो अज्ञानावृत को मार तो देती है, पर चोला नहीं बदलने देती। बस यही खतरा है इस साधना में।

ध्यान वह कार्य नहीं करता

और ज्ञानी पुरुष इसी स्थिति को मृत्यु कहते हैं और अमरत्व भी। जब साधक ध्यानरत होता है तो अपने को बिल्कुल खो देता है। उसका ध्यान दृढ़ होता है तो उसे किसी बात का होश नहीं रहता यदि यह कहें कि साधक बिल्कुल

मिट जाता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि मृत्यु जिस प्रकार मिटाती है, उससे भिन्न प्रकार से ध्यान मिटा देता है।

सभी जानते हैं कि मृत्यु का काम एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में पहुँचा देना है। परन्तु ध्यान वह कार्य नहीं करता। वह साधक को इसी शरीर में मिटा देता है। मृत्यु शरीर को लेती है किन्तु आपको नहीं ले सकती। उसमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह आपके आपे को मिटा सके। यह सामर्थ्य तो ध्यान में ही है, वह आपके शरीर को मिटाने में समर्थ नहीं है, किन्तु आपे को मिटा डालता है।

समझ लिया आपने? यह कोई छोटा—मोटा खतरा नहीं, बहुत बड़ा खतरा है। यदि आप कुछ चाहते हैं तो इस खतरे को मोल लेना ही होगा। इस भौतिक जगत् में आजीविका के उद्देश्य से खतरे के अनेक कार्य करते हैं, वे घबराते नहीं, उसकी आशंका से इसी प्रकार साधक को भी किसी खतरे से घबराना नहीं चाहिए।

खतरे में जीवन

और यह भी एक रहस्य है कि किसी भी प्रक्रिया में खतरा और उपलब्धि दोनों का ही समावेश रहता है। जिसमें खतरा है, उसमें जीवन भी है। खतरे के भय से कोई जीवन को कैसे छोड़ सकता है? गुलाब के पौधे में फूल हैं तो काँटे भी हैं, काँटा लगने के भय से फूल तोड़ने से कौन समझदार मनुष्य रूका रह सकता है?

यदि अमृत की खोज करना चाहते हो तो खतरे से मत डरो। डरोगे तो जो चाहते हो वह प्राप्त नहीं कर सकते। यह एक ऐसा सत्य है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। जो है, वह अमान्य कैसे हो सकता है? यदि प्रत्यक्ष देखी जाती हुई कोई बात झूठी नहीं हो सकती हो तो फिर समझा जा सकता है कि सत्य कुछ नहीं।

और अब पुनः खतरे की बात पर आयें जहाँ मौलिकता का महत्व है वहाँ खतरा रहेगा ही, पारमार्थिकता में खतरा नहीं है और यही कारण है कि शरीर को खतरा है क्योंकि वह भौतिक है, किन्तु पारमार्थिक होने के कारण आत्मा को कोई खतरा नहीं है।

इसलिए शरीर को सुख देना है तो खतरा मोल लेना ठीक नहीं, क्योंकि किसी भी खतरे में मृत्यु की आशंका हो सकती है। इसके विपरीत आत्मा का सुख देखने की दृष्टि से खतरा भी अपने को मिटा डालता है। यहीं से आनन्द का द्वार आरम्भ हो जाता है।

कुण्डलिनी जागरण में उपस्थित बाधायें

और कुण्डलिनी जागरण में उस खतरे का भय ही प्रमुख बाधा बन जाती है। वही खतरा हमारे मन को कृतसंकल्प होने से रोकता है। उस समय हमारा मन कर्तव्य-अकर्तव्य पर विचार करता हुआ कर्तय विहीन हो जाता है।

लोग कहते हैं कि हमारी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं हो

पाती। हमने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नही मिली और इसके साथ वे उपाय पूछते हैं। परन्तु स्वयं निर्णय नहीं ले पाते कि ऐसा क्या किया जाए जिससे कुण्डलिनी जाग सके?

वे नहीं समझते कि लगन बहुत बड़ी चीज है। मन में लगन नहीं है तो कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। यदि किसी कार्य के करने का दृढ संकल्प कर लिया तो यह अवश्य पूरा हो सकता है।

यही बात कुण्डलिनी जागरण के विषय में है।यदि कुण्डलिनी जागरण के मार्ग में संकल्प की दृढ़ता नहीं है तो उसका जाग्रत होना कोई सरल कार्य नहीं है। संकल्प से ही कोई कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। यदि संकल्प नहीं तो वह संकल्पाभाव है उस मार्ग में बहुत बड़ा व्यवधान है।

यदि सफलता चाहते हैं तो कुण्डलिनी जागरण का संकल्प लेकर चलिए। कुछ दिनों में ही प्रतीत होगा कि आप उसे जगाने में सफल हो रहे हैं। आपको लगेगा कि उदर के निचले भाग में कुछ वर्तुलाकार वस्तु चक्कर सा काटती और कुछ ऊपर की ओर उठने का प्रयत्न करती है। सर्प की फुँकार जैसे सब भीड़ को उद्वेलित कर देती है, वैसे ही आन्तरिक सर्पिणी जब जाग्रत होकर फुँकारती है तब शरीर के भीतर अभूतपूर्व हलचल मचा देती है। उसका दिव्य अमृत रूप विष असत्य विचारों, अज्ञानों, पापों एवं अन्य ऐसे ही प्रकार के विचारों को दग्धकर स्वयं भी अपना विषाक्त प्रभाव

त्याग देता है।

और उस अमृतमयी विपरीत रूप कुण्डलिनी का जागरण साधक के लिए अभूतपूर्व एवं महत्वपूर्ण घटना बन जाती है। परन्तु उसका वह जागरण होना तभी है जब संकल्प की दृढ़ता हो, क्योंकि संकल्प ही एक ऐसा अद्वितीय साधन है इस प्रक्रिया की सम्पन्नता में और उसी के सहारे साधक बढ़ता रहता है भयरहित रूप से।

सङ्कल्प की दृढ़ता का भी एक कारण है

सकल्प की दृढ़ता क्या स्वतः उत्पन्न हो सकती है? नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। किसी पदार्थ को प्राप्त करने की उत्कृष्ट इच्छा ही सङ्कल्प को उत्पन्न करती है। इच्छा नहीं तो क्रिया भी नहीं हो सकती सङ्कल्प की जननी इच्छा ही है। बिना उसके कुण्डलिनी जागरण जैसा अद्भुत और बड़ा कार्य तो क्या एक छोटा सा कार्य भी असम्भव है।

इससे स्पष्ट है कि इच्छा उत्पन्न होगी तो ही सङ्कल्प उत्पन्न होगा। इससे यह भी स्पष्ट है कि इच्छा और सङ्कल्प में बहुत दूरी नहीं है। वे दोनों पास–पास रहकर एक साथ कार्य में जुटते हैं। शास्त्र कहते हैं कि प्रलयान्त में जब परमात्मा सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा करता है तब उसे भी संकल्प करना होता है–'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक से बहुत हो जाऊँ) और तब वह निश्चय ही एक से बहुत हो जाता है। स्पष्ट है कि यह संसार उस परमात्मा की इच्छा से और संकल्प का प्रतिफल है। यदि वह संकल्प न करता तो संसार

में प्रकट हो ही नहीं सकता है।

तो संकल्प का यह महत्त्व सभी कार्यों में समान रूप से प्रभावशाली है। भला यह कैसे हो सकता है कि संकल्प किया जाए और कार्य नहीं बने? यह बात दूसरी है कि आप कार्य होने से पहले ही संकल्प को भंग कर बैठे।

सभी विद्वान सङ्कल्प शक्ति को न्यूनाधिक प्रकार से इसी रूप में स्वीकार करते हैं कि निर्माण और विध्वंस दोनों प्रकार की प्रक्रियायें जैसा सङ्कल्प किया जाएगा, वैसा प्रतिफल होना अवश्यम्भावी है।

सङ्कल्प के क्रियान्वयन में एक और बाधा

और कुण्डलिनी जागरण के संकल्प में एक और भी बाधा है जिस की प्रबलता स्वीकार करनी होती है। वह बाधा बहुत कुछ इच्छा से मेल खाती है किन्तु है अन्य प्रकार की ही। बहुत लोग इच्छा होते हुए भी उस दूसरी भाषा के कारण संकल्प के क्रियान्वयन में असफल रहते हैं।

क्या है वह? सम्भव है आप आश्चर्य करें कि बात आरम्भ होती है और घूम फिर कर वहीं आ जाती है। क्यों? भूगोलशास्त्री जानते हैं कि धरती गोल है और जिस स्थान से चला जाए, घूम फिरकर वहीं लौट भी सकते हैं। परन्तु उसे लौटाने में भी अनेक बाधायें उपस्थित हो सकती हैं जैसे मार्ग की थकान, पथ की जानकारी का अभाव या पर्वत नदी आदि का मध्य होना। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिकों ने इन बाधाओं का निस्तारण विविध यन्त्रों के आविर्भाव द्वारा कर लिया है तो भी

बाधा तो बाधा ही है।

आध्यात्मिक प्यास का अभाव

हाँ, कुण्डलिनी जागरण में आने वाली बाधाओं की चर्चा थी। उसमें एक बड़ी बाधा है– आध्यात्मिक प्यास का अभाव। जब तक वह बाधा रहेगी, तब तक कौन सी ऐसी शक्ति है जो कार्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सके।

भौतिक सुखों की अभिलाषा आध्यात्मिक प्यास को जाग्रत नहीं होने देती। अध्यात्म का बीज लगता है, अंकुर भी फूटता है किन्तु भौतिक अभिलाषायें उस अंकुर को पनपने नहीं देती। यदि वे अधिक प्रबल हुई तो अध्यात्म के बीज को ही नष्ट कर देती है।

और इसका भी एक प्रबल कारण बताया है संस्कार। जब तक संस्कार जाग्रत न हों तब तक आध्यात्मिक प्यास उत्पन्न नहीं हो पाती। परन्तु एक मान्यता यह भी है कि मनुष्य शरीर मिलता ही इसलिए है कि पूर्वकृत् संस्कारों को दग्ध करने का प्रयत्न किया जा सके। वस्तुतः दूसरी बात अधिक तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है। यदि उस पर ध्यान दिया जाए तो आत्मोत्थान की दिशा में बहुत कुछ बढ़ा जा सकता है।

कोई भी प्रक्रिया हो प्रारम्भ में कुछ लोग ही उससे लाभान्वित होते हैं किन्तु बाद में तो उसका सामूहिक प्रयोग आरम्भ हो जाता है। सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले स्त्री पुरुष नंगे रहते थे। जो लोग आदम और हब्बा से मानवजाति का आरम्भ बताते हैं, उनका भी यही कहना है कि वे दोनों पूर्ण

रूपेण नंगे रहते थे। बाद में बहुत हुआ तो वृक्षों की छाल से और पत्तों से गुप्त अंङ्ग ढ़क लिये जाते थे।

आदम और हब्बा का युग

परन्तु धीरे धीरे लोग वस्त्र पहिनने लगे। इस क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट है कि आदम और हब्बा के युग में वस्त्रों के विषय में कोई जानता ही नहीं था। जो लोग वृक्षों की छाल और पत्तों से गुप्तांङ्गों को ढकते थे, वे या तो अनुभव करने लगे थे कि उन उन अङ्गों को ढकना आवश्यक है, किन्तु उस समय तक वस्त्रों का उत्पादन आरम्भ नहीं हुआ था।

ऋग्वेद में एक मन्त्र 'त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्' आदि के रूप में मिलता है। परन्तु इसमें जो सुगन्धि शब्द आया है, उसका प्रयोग बहुत अधिक नहीं हो पाया था जो लोग सुगन्धि को जान गये थे, किन्तु उसका व्यवहार कम कर पाते थे। आज भी सुगन्धि का व्यवहार करने वाले लोग बहुत कम मिलेंगे।

और इसी प्रकार आध्यात्मिक व्यास का प्रश्न है। अध्यात्म शब्द को तो बहुत लोग मानते हैं, परन्तु उसका प्रयोग करने वाले कितने हैं? और उसका प्रयोग जानने वालों की कमी के कारण विभिन्न प्रकार से किया जाने लगा है। कोई निराकार को अध्यात्म बताता है तो कोई साकार को। कोई मूर्तिपूजन को धर्म बताता है तो कोई मूर्ति न पूजना ही धर्म मानता है।

मत-मतान्त्तर और ईश्वर के रूप

और इस निराकार, साकार के चक्कर में मनुष्य वास्तविकता से परे हटता जा रहा है। मूर्तिपूजक कहते हैं कि भगवान् यही है, उनका पूजना ही कर्तव्य है, योग, यज्ञ, संयास आदि सब व्यर्थ है। याज्ञिक कहते हैं कि यज्ञ करो, इसके बिना भगवान नहीं मिल सकते और योगी कहते हैं कि योगक्रिया ही ईश्वर–प्राप्ति का साधन है।

इस प्रकार इन मतान्तरों ने ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में एक सुदृढ़ दीवार खडी कर दी है। सभी विचारक समझते हैं कि लोगों को वास्तविकता का ज्ञान मत दो और इसी उद्‌देश्य से आज लोक कल्याण की बातें कम और गुरूडम की बातें अधिक चल पड़ी हैं। कुछ लोग सन्त महात्माओं के रूप में बहकाते हैं तो कुछ पण्डे–पुजारी के रूप में।

धर्म के नाम पर आज बड़े–बड़े लोग बहक गये हैं। बड़े बहके तो छोटे भी बहक गये। छोटों ने सोचा कि बड़े लोग मानते हैं तो अवश्य कोई तथ्य होगा, कोई चमत्कार होगा। तुम भी उसी मार्ग पर चलो। "महाजनो येन गतः स पन्थः" जिस मार्ग पर बड़े लोग चलें, वही मार्ग है।

बड़ों के साथ साँठ-गाँठ करो

यह बात कुछ नवीन नहीं है। पहले से ही ऐसा होता है। लोगों को मूर्ख बनाना है तो बड़े लोगों से साँठ–गाँठ करो और उन्हें अपना प्रभाव दिखाओं कि बहुत से छोटे लोग हमें मानते हैं, हमारी पूजा करते हैं। परन्तु उस पूजा का कारण

छोटे लोग नहीं, बड़े लोग ही होते हैं। बड़े जिसकी पूजा करें, उसकी छोटे तो करेंगे ही।

इसी सिद्धान्त के बल पर न जाने कितनों ने सामान्य व्यक्तियों को उल्लू बनाने का षड्यन्त्र रचा। बड़े–बड़े के सिरों पर पांव रखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि यदि ईश्वर तक पहुंचना है तो बलि बनना होगा क्योंकि बलि ने अपने को धन्य तभी माना जब त्रिविक्रमदेव (वामन भगवान) ने उसके मस्तक पर चरण रख दिया।

और ईश्वर के मार्ग में ऐसी भ्रान्तियाँ ही सद्ज्ञान में अवरोध का कारण होती हैं। यदि कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया को समझना है तो इन अवरोधों को दूर करना होगा, कुण्डलिनी जागरण किसी के पांव धरने से नहीं होगा, वरन् ध्यान से ही होगा। और उस दिन ध्यान में तन्मयता तभी लाई जा सकेगी, जब आध्यात्मिक प्यास लगी होगी। उस प्यास के बिना उसकी सम्भावना प्रायः नहीं ही है।

किन्तु आज बहुत से व्यक्ति भगवान् को जानने वाले मिल जायेंगे। वे चाहे मुख से न कहें कि भगवान् को जानते हैं किन्तु लोगों पर इस प्रकार का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। उनके उस प्रदर्शन के फलस्वरूप दूसरे लोग भी यह मान बैठते हैं कि हमें अमुक से मार्गदर्शन मिल गया है, हम भी भगवान् को जानते हैं।

जानने और प्राप्त करने में अन्तर

और यदि यह मान भी लें कि इतनी बड़ी भीड़ भगवान को जान गई है तो किसी वस्तु को जानना और उसे पा लेना एक ही बात नही हो सकती। कार्य जान लेने से नहीं बनेगा, उसे प्राप्त कर लेने से बनेगा। परन्तु इस प्रकार की भ्रान्ति प्यास की उत्पत्ति में बाधक होगी। यदि आध्यात्मिक प्यास उत्पन्न हो भी जाएगी तो उसी प्रकार शान्त भी हो जाएगी जैसे प्यासे को पानी न मिले तो किसी अन्य पदार्थ को पीकर उस समय प्यास बुझा ले।

और जब प्यास बुझ गई हो तो बहुत देर तक पानी के बिना काम चल सकता है। अब यह हुआ न अबरोध? कोई भी वस्तु हो, प्यास बुझी तो बुझ ही गई। परमात्मा की प्राप्ति की प्यास भी कम तो हो ही जाती है और उस स्थिति में इच्छा की कमी होना स्वाभाविक है। उसके साथ ही संकल्प भी ठण्डा पड सकता है।

सत्सङ्ग का अध्ययन

लोग सत्सङ्ग की बात कहते हैं। अनेक विद्वानों के मत में सत्सङ्ग की अपेक्षा अध्ययन अधिक प्रभावोत्पादक हो सकता है क्योंकि सत्सङ्ग में वैचारिक भिन्नता के दर्शन हो सकते हैं और अध्ययन में उसकी सम्भावना कम रहती है। क्योंकि अध्ययन प्रायः उन्हीं ग्रन्थों का किया जाता है, जिन्हें वैचारिकता के अनुकूल समझा जाता है।

जब तक ये बाधायें जाग्रत रहेंगी, तब तक न तो

आध्यात्मिक प्यास में तीव्रता रहेगी और न सङ्कल्प में ही दृढ़ता आ सकेगी और जब तक यह नहीं होता तब तक परमात्मा की प्राप्ति या शक्ति का जागरण ही असम्भव है।

हम भौतिक आकांक्षाओं में इतने फँस गये हैं कि उनके चंगुल से निकलने का मार्ग ही दिखाई नहीं देता। उन आकांक्षाओं को अधिक जाग्रत करते हैं, आधुनिककाल में साधु–सन्त और योगीजन बनने वाले व्यक्ति समझते हैं कि हमें उससे यह अलभ्य वस्तु प्राप्त होगी, जो सभी को नहीं हो सकती अथवा जिसे हम पहले कभी प्राप्त कर नहीं कर सकते और ये साधु सन्तरूपी महापुरूष कुछ ऐसे अनुचर भी साथ रखते हैं जो साधारण दर्शनार्थियों को अपने स्वामी का प्रभुत्व बताते हुए भीड़ के नियन्त्रण जैसी कला में भी अपने को दक्ष सिद्ध करते हैं।

कुण्डलिनी जागरण के अवरोध

कुण्डलिनी जागरण के मार्ग में आने वाली इन बाधाओं को तो दूर करना होगा। यह एक प्रकार की कुण्ठा ही है जो साधक को तो अपने मार्ग से विचलित कर ही देती है। इस प्रकार की कुण्ठाओं का निवारण तभी सम्भव है जब हम परमात्मा मार्ग को ठीक प्रकार से जानने का प्रयत्न करें और यह किसी अनुभवी योगीराज के द्वारा अधिक सरलता से जाना जा सकता है।

कुण्डलिनी जागरण परमात्मा की प्राप्ति का ही एक प्रमुख मार्ग है। इस पर चलने वाला साधक धीरे–धीरे सिद्ध

बन जाता है। इसलिए प्रयत्न यह करना चाहिए कि इसकी उपलब्धि हो सके। यदि यह सम्भव हुआ तो फिर कुछ भी असम्भव नहीं रहेगा।

भ्रान्तियाँ, कुण्ठायें विषयेच्छायें आदि न जाने कौन–कौन सी बाधायें साधक को कार्य से भटकाने लगती हैं। उन सबसे परे हटकर आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ साधना पथ पर बढ़ना चाहिए। ऐसा होने पर ही पूर्ण सफलता की प्राप्ति हो सकती है।

ध्यान से आत्म सम्मोहन

ध्यान से जो अनुमान उपलब्धि होती है, उसका ठीक अनुभव तो उन्हीं को हो पाता है जो उनमें कुछ अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग अनुभवी हैं, वे भी यदि दृढ़ता से उसे करने लगे तो शीघ्र ही अनुभूतियों के साक्षात्कार का लाभ उठा सकते हैं।

सम्मोहन का अभिप्राय एक एसी प्रक्रिया से है जो मनुष्य को सभी कुछ भुला दे और एक उद्देश्य में निहित कर दे। उसका प्रयोग हिप्नोटिस्ट चाहे जिस पर कर सकता है और जिस पर करता है वह भी अपने बाह्यवृत्तियों में उन्मुख होकर आन्तरिक अनुभूतियों में रम जाता है।

इसी प्रकार यदि आत्मसम्मोहन (आटो हिप्नोटिस्म) किया जाए तो मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने में समर्थ हो सकता है। उसकी इच्छाशक्ति यदि परमात्मा की ओर लगती है तो उससे अधिक श्रेष्ठ और कौन सी बात

होगी? आत्मोत्थान का सर्वश्रेष्ठ उपाय तो यही है।

सम्मोहन की प्रक्रिया कुछ सामान्य नहीं, जब वह जीव के साक्षी भाव से मिलती है तब उत्कृष्ट ध्यान की स्थिति बन सकती है। परन्तु सम्मोहन के साक्षीभाव से पृथक होने की स्थिति में उसका रूप मुर्च्छा का बन जाता है।

आत्म–सम्मोहन और साक्षीभाव में यही अन्तर है। यद्यपि सम्मोहन में मनुष्य मूर्च्छाग्रस्त रहता है और साक्षीभाव के साथ ही ध्यानावस्था उत्पन्न हो सकती है।

ध्यान की शक्ति

ध्यान में बड़ी शक्ति है। उसके कारण शरीर पर बहुत से स्वास्थ्य सम्बन्धी परिवर्तन हो सकते हैं। उसके फलस्वरूप अनेक रोग एवं मानसिक विकारों को दूर होते देखा गया है। योगशास्त्रियों की भी यह मान्यता है कि ध्यान के द्वारा स्वास्थ्य की उन्नति और आयु की वृद्धि होती है।

शारीरिक वैज्ञानिक मानते हैं कि शरीर में अनेकों नलिकायुक्त एवं नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ हैं जिनके स्राव शरीर के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। यदि वे ग्रन्थियाँ ठीक प्रकार से स्रवित नहीं होतीं तो अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थियों को सक्रिय बनाया जा सकता है।

क्रोधावस्था में विशेष हलचलें

मनोवैज्ञानिकों, शरीरशास्त्रियों तथा स्वास्थ्य विशेषज्ञों का मत है कि जब मनुष्य क्रोध में होता है तो शरीर

में एक विशेष प्रकार की हलचल होती है जिससे मिलकर स्राव वाली ग्रन्थियाँ मुरझा जाती है और उसका स्राव अनियमित तथा अल्प हो जाता है। इसके विपरीत अन्य अङ्गों में विष बनने लगता है जिसका प्रभाव शरीर पर प्रतिकूल पडना स्वाभाविक है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक सम्भवतः यह निष्कर्ष निकालने में अभी सफल नहीं हुए कि प्रेम की अवस्था में शरीर की अवस्था क्या होती है?

इसका चित्रण चाहें आधुनिक वैज्ञानिक कर सकें अथवा नहीं किन्तु हमारे महर्षि, मनीषि और कविगण उसका भी वर्णन करने में समर्थ रहे हैं उन्होंने प्रेम को ही साक्षात् अमृतरस माना है। जो लोग उस रस में अवगाहन करते हैं, वे निश्चय ही अमर हो जाते हैं।

क्रोधावस्था ध्यान में नहीं होती, क्योंकि क्रोध से तो ध्यान भंग होता है। वह शरीर में विषय उत्पन्न करने वाला एक भाव है, जिसके रहते आध्यात्मिक स्तर पर ध्यान तो हो ही नहीं सकता। परन्तु जो लोग दृढ़तापूर्वक ध्यान लगा सकते हैं वे जानते हैं कि ध्यान में प्रेम की उत्पत्ति होती है। उस अद्वितीय प्रेम की, जो शरीर को भी अमृत रस से सराबोर कर देता है।

विद्युतधाराओं का परिवर्तन

क्रोध और प्रेम दोनों ही भाव शरीर पर अत्यन्त प्रभाव डालते हैं जिससे शरीर की रासायनिक सरंचना में भी परविर्तन आने लगता है। उसके फलस्वरूप शरीर में प्रवाहित

विद्युत अपनी सभी धाराओं को बदल देती है। जब धारा बदलेगी तो उसका प्रभाव क्या होगा? यह सभी विचारवान मनुष्य सहज ही में समझ सकते हैं। ध्यान की गहराई प्रेम की भी गहराई है जिसके कारण नाद सुनाई देने लगता है और प्रकाश दिखाई देने लगता है। शरीर में निहित दुर्गन्ध का आभास भी नहीं होता सुगन्ध ही सुगन्ध का अनुभव होने लगता है। यह प्रक्रिया उतनी ही अधिक स्पष्ट होगी जितना अधिक गहरा उतरा जायेगा।

ध्यान वह अद्भुत अनुभूतियाँ कराता है जो पहले कभी न हुई हो। जो रंग, जो प्रकाश पहले कभी नहीं देखा, वह इसमें देखा जा सकता है। जो स्वर पहले कभी नहीं सुना, वह सुना जा सकता है तथा जिस गन्ध का कभी अनुभव नहीं हुआ, वह अनुभव में आ सकती है।

रासायनिक प्रयोग

यह सब किस प्रभाव से होता है? स्पष्ट है कि यह सब रासायनिक (केमिकल) प्रभाव है। पुराने सङ्गीत–सिद्ध पुरूष विविध रागों द्वारा दीपक जलाते, वर्षा करते या पानी को भी सुखा देते थे। मालूम नहीं वर्तमान समय में ऐसे व्यक्ति हैं या नहीं? पहले तो थे।

परन्तु स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रक्रियाओं में तो वर्तमान में भी संगीत का प्रयोग किया जाता है। उसके द्वारा रोगों को भी दूर किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि सङ्गीत से रोग दूर कैसे होते हैं? कभी सोचा है आपने?

संगीत की तरंगे मन को ही प्रवाहित नहीं करती, विविध
ा अङ्गों अवयवों को भी प्रवाहित कर देती हैं। उसका कारण स्पष्ट है संगीत की ध्वनि शरीर में रासायनिक परिवर्तन करने लगती है और उसी के फलस्वरूप प्रतिक्रिया भी देखी जाती है। यदि संगीत दुःखद होगा तो उसका फल दुःखद ही होगा अच्छे संगीत का फल ही विशेष रूप से शुभ पड़ेगा।

ध्यान की प्रक्रिया में भी क्रोध की और प्रेम में अमृत की उत्पत्ति का सिद्धान्त यही है। योगीजन ध्यान के प्रभाव में ही स्वस्थ रहते और लम्बी आयु पाते हैं। ध्यान का जितना प्रभाव शरीर पर पड़ता है, मन पर भी उससे कम तो पड़ता नहीं। यदि मन सुखी तो तन भी सुखी। शारीरिक स्वास्थ्य का रहस्य मन की अनुकूलता है और ध्यान के द्वारा वह अनुकूलता सहज ही उपलब्ध की जा सकती है।

ऊर्जा-संसार का आदि स्त्रोत

ऊर्जा की व्यापकता

संसार का आदि स्रोत ऊर्जा ही है। यदि ऊर्जा नहीं तो कहीं कुछ भी नहीं। परन्तु यह ऊर्जा सूक्ष्म है और सूक्ष्म होते हुए भी व्यापक है, असीमित है। यह संसार ऊर्जा का ही विस्तार मात्र है। इससे स्पष्ट है कि ऊर्जा ही संसार रूप में व्यक्त हुई है। यदि ऊर्जा का अभाव हो तो संसार का भी अभाव हो जाएगा।

जब प्रलय होती है और संसार छिप जाता है, तब ऊर्जा ही उसे अपने में समेट लेती है। विद्वानों का मत है कि महाप्रलय में भी संसार नष्ट नहीं होता वरन् ऊर्जा के आवरण में छिप जाता है। संसार में जो कुछ भी चैतन्य प्रतीत होता है, वह सब ऊर्जा ही है। इसी प्रकार जो जीवन है, वह भी ऊर्जा ही है। जब प्राणान्त होता है, तब ऊर्जा चली जाती है, मिट्टी का शरीर धरती पर पड़ा रह जाता है।

इस दूसरे रूप में इस प्रकार समझिए कि जो कुछ भी गतिशील है, वह सब ऊर्जा ही है। बिजली की दमक और कड़क समुद्र में उठती हुई लहरें और चलती हुई हवा ऊर्जा का ही एक रूपान्तर है। अग्नि का तेज भी ऊर्जा है और धूप में सूर्य का प्रकाश भी ऊर्जा से भिन्न नहीं है। जब कभी धरती हिलती है तो उसका कारण भी ऊर्जा ही होता है।

ऊर्जा के विविध परिणाम

सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी कुछ ऊर्जा का परिणाम है। करोड़ों किलोमीटर दूर स्थित सूर्य हमारे पास तक गर्मी और प्रकाश पहुँचाता है, यह भी ऊर्जा का ही प्रस्फुरण है। सूर्य में विद्यमान ऊर्जा हमें इतनी दूर से जीवन देती है प्राणियों में जो ऊष्मा है, वह सूर्य की ही ऊष्मा का अंश है। यदि सूर्य में ऊर्जा न रहे तो प्राणियों में भी जीवन रहना असम्भव हो जाए।

और वह ऊर्जा इस प्रकार हमें ऊपर से प्राप्त होती है। पृथ्वी भी ऊर्जा प्रदान करने में पीछे नहीं रहती। वह भी अन्नरूप से प्राण प्रदान करती है। गन्धदान से सुगन्ध भर देती है शरीर में। प्राण उस गन्ध से उस अन्नरस से उत्फुल्लित एवं सफल हो जाता है। तभी प्राणी कुछ करने योग्य होता है। जीवन है किन्तु शक्ति नहीं तो कुछ भी करना सम्भव नहीं। परन्तु जीवन के बिना शक्ति रह ही नहीं सकती। इस प्रकार जीवन और ऊर्जा या शक्ति की अभिन्नता समझी जाती है।

वही ऊर्जा शक्ति बन जाती है। जब वह प्राणियों को गतिवान बनाती है, तब उसे अधिक व्यक्ति शक्ति नाम से ही जानते हैं। शक्ति सभी शरीरों में रहती है, उसके विषय में ज्ञान बहुत कम व्यक्तियों को होता है क्योंकि शरीर के भीतर जो शक्तिकेन्द्र है, वे पूर्णरूप से क्रियाशील नहीं रहते। उनका कारण शक्ति का सोए रहना है।भला शक्ति सोती है तो केन्द्र में क्रियाशीलता कहाँ से आयेगी?

शक्ति जागरण का रहस्य

शक्ति का जागरण भी एक रहस्य ही है। बहुत से व्यक्ति कहने लगते हैं कि हम उस स्थिति को पारकर चुके हैं। हमारी शक्ति जाग्रत हो चुकी है। पर उसी कथन के आधार पर कुछ लोग तो उलटी–सीधी बातें कहकर भी लोगों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। हो सकता है कि उन्हें उसका कुछ अनुभव हुआ हो, किन्तु कोई भी अनुभव बातों से नहीं होता। ज्ञान दो प्रकार का होता है– (१) अध्ययनरत और (२) अनुभवजन्य। पाश्चात्य भाषा में यही क्रमशः थ्योरोटिल और प्रेक्टिकल कहलाते हैं।

शक्ति जागरण का अध्ययनजन्य ज्ञान होने पर भी कोई समझे कि हमने उसे पूर्णरूप से जान लिया है तो वह उसकी भूल ही होगी क्योंकि वास्तविक ज्ञान वही है जो अनुभव से भी सिद्ध हो। विशेषकर शक्ति जागरण के विषय में तो इसके बिना कार्य ही नहीं चल सकता।

शक्ति जागरण का एक विज्ञान

वस्तुतः शक्ति जागरण का एक विज्ञान है, जिसे अनुभव से जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है। प्रथम तो शक्ति का जागरण ही कोई साधारण कार्य नहीं है, उसके लिए बहुत अभ्यास की अपेक्षा रहती है। यदि अभ्यास के फलस्वरूप शक्ति जागरण का अवसर हाथ आगया, तब तो कहने ही क्या हैं?

और शक्ति जाग उठी तो निश्चय ही शक्ति केन्द्र भी जाग्रत हो गये, क्योंकि वह जागते ही ऊपर की ओर उठनी प्रारम्भ हो जाती है। वह जैसे ही उठने को होती है, वैसे ही शरीर की स्थिति ऐसी हो जाती है कि जैसे भूकम्प आ गया हो। इसमें शरीर नहीं समूचा व्यक्तित्व ही कांप उठता है।

परन्तु उस कम्पन को रोकना अभिप्रेत नहीं है। उसमें सहयोग देने से ही साधना का फलालाभ हो सकेगा। कुछ साधक इस बात को सुनकर डरते हैं और समझते हैं कि कुण्डलिनी जागरण होने पर न जाने क्या हो जाए।

परन्तु भय तो व्यर्थ है, भय ही वह महापाप है जो साधक के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। साधक डरता है कि शक्ति के जागते ही कहीं जीवनान्त ही हो गया तो? और होता भी यही है, मनुष्य पुराने जीवन से मुक्त होकर नवीन जीवन धारण कर लेता है। इसे चाहे कोई मरण समझ ले अथवा जीवन। काया नहीं बदलती, भावना बदल जाती है, जीवन बदल जाता है, मनुष्य कुछ से कुछ हो जाता है।

शक्ति जागरण के बाद क्या होता है?

प्रायः सभी मनुष्यों में कोई न कोई कमी अवश्य रहती है और वह कमी ही उन्हें साधारण अवस्था में रखती है। जितने भी मनुष्य दिखाई देते हैं वे सभी एक जैसा जीवन जीते है। उनका शरीर दुर्बल और मन में साहस की कमी के साथ व्यक्तित्व कुण्ठित रहता है। जब किसी व्यक्ति विशेष की विशेषता का वर्णन होता है तो वे उसे आश्चर्य से सुनते हैं

बहुत से व्यक्ति किसी की विशेषता पर विश्वास ही नहीं करते।

उसका कारण खोजने के लिए बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह सुपरिचित कारण है कुण्डलिनी शक्ति का सोई हुई पड़ी रहना। सर्प जब तक नहीं जागता, तब तक उसकी फुंकार का कोई भय नहीं होता, परन्तु जाग उठता है तो अपने प्रभाव को भी अपने से पृथक् नहीं छोड़ता है।

विष मारक भी, उपयोगी भी

यदि सर्प अधिक विषैला है तो उसका विष भी भयंकर हो सकता है। परन्तु वह भयंकर विष जहाँ शीघ्र ही मारक सिद्ध होता है, वहाँ अन्य प्रक्रियाओं से उपयोगी भी हो सकता है। जब उसका प्रयोग औषधियों के रूप में किया जाता है तब वह हितकारी भी होता है।

अणुशक्ति को ही लीजिए– उसके विध्वंसक प्रभाव से आधुनिक काल के सभी व्यक्ति परिचित हैं। जापान के हिरोशिमा और नागासाकी के नगरों का विध्वंस अणुशक्ति ने किया था, किन्तु आज उसी शक्ति का उपयोग अन्य जनहितैषी कार्यों में भी हो रहा है इससे स्पष्ट है कि कोई भी शक्ति विध्वंसक और निर्माणक रूप में द्विगुणात्मक होती है।

और यही तथ्य कुण्डलिनी के विषय में भी ध्यान देने योग्य है। वह जब जाग्रत होती है, तब उसका रूप वही होता है जो एक क्रुद्ध सर्पिणी का हो सकता है। कोई छेड़कर देखे

तो सही किसी सोती हुई सर्पिणी को। वह तुरन्त ही फुंकारती हुई काटने को दौड़ेगी।

वही हाल कुण्डलिनी का है, वह जाग्रत होते ही सर्वप्रथम शरीर के उन्हीं केन्द्रों पर प्रहार करती है, जो सुप्त पड़े रहते हैं जिनमें क्रिया शीलता का अभाव रहता है, उन्हें हम षट्चक्रों के रूप में सुनते आए हैं। आज का वैज्ञानिक कहता है कि शरीर में वैसा कोई केन्द्र दिखाई नहीं देता। उनकी यह बात मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि उन केन्द्रों को देखने के लिए अन्तर चक्षु (दिव्यनेत्र) चाहिए। बाह्य चक्षुओं से तो कुण्डलिनी नामक उस सर्पिणी को भी देखा जाना सम्भव नहीं है।

शक्ति के दो ध्रुव

पृथ्वी की चेतना शक्ति और क्रियाशक्ति उसके दो ध्रुवों में भरी हुई है, जिन्हें उत्तरी ध्रुव एवं दक्षिणी ध्रुव कहते हैं। यह दोनों ध्रुव मानव शरीर में उसी प्रकार विद्यमान हैं। उनकी स्थिति ऊर्ध्व भाग में और अधोभाग में है। शरीर का उत्तरी ध्रुव ब्रह्मरन्ध्र है, जिसे सहस्रार तथा मस्तिष्क भी कहते हैं। परन्तु दक्षिणी ध्रुव सुषुम्ना संस्थान है, वहीं कुण्डलिनी का मुख्य केन्द्र मूलाधार चक्र स्थित है।

शरीर के उस उत्तरी ध्रुव को तो बहुत लोग सुनते समझते रहे हैं। आज के शरीरशास्त्री भी उसमें निहित अद्भुत ऊर्जा को स्वीकार करते हैं। परन्तु योगीजन जिस रूप में इसका अनुभव कर चुके हैं, वह रूप विज्ञान का उतना विषय नहीं, जितना योगानुभवों का है। उसी ब्रह्मरन्ध्र से अमृत का

स्राव होता है और वहीं शिव का निवास मानते हैं। कुछ योगियों का तो यहां तक कहना है कि शिव की जटाओं में समाविष्ट विष्णुपदी का अमृतरूप पावन स्राव ही मनुष्यों के लिए प्राणरूप होता है।

यद्यपि परोक्ष से उस अमृत का अत्यन्त स्वलपांश तो सभी को सहज रूप से प्राप्त हैं। साधारण मनुष्य भी उस अमृत की ही कुछ बूंद प्राप्त करते हुए जीवन धारण करते हैं। परन्तु शक्ति जागरण के पश्चात् तो उसकी निर्झरिणी का लाभ अनवरत रूप से प्राप्त होता रहता है। इसका अनुभव वे ही कर पाते हैं जिनकी कुण्डलिनी शक्ति सचेत हो चुकी होती है।

जाग्रतशक्ति का प्रमुख कार्य षट्चक्र वेधन

जब कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है तो निष्क्रिय नहीं बैठी रह सकती वह तुरन्त ही दक्षिणी ध्रुव को सक्रिय बनाने के कार्य में जुट जाती है। उसका आक्रमण सर्वप्रथम अपने ही केन्द्र पर होता है क्योंकि उसे बेधे बिना उसका आगे बढ़ना सम्भव नहीं है।

शरीर के दक्षिणी ध्रुव की क्रियात्मक शक्ति जागरण से आरम्भ हो जाती है। शरीर में ६ चक्र प्रसिद्ध हैं– (१) मूलाधार चक्र, जिसकी स्थिति जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे की ओर गुदा से दो अंगुल ऊपर की ओर है, (२) स्वाधिष्ठान चक्र जिसकी स्थिति जननेन्द्रिय के सामने (पेड़ू) में है, (३) मणिपुर चक्र इसका स्थान स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर नाभिकमल में है, (४) अनाहत चक्र यह हृदय में स्थित है, (५) विशुद्ध चक्र

इसकी स्थिति कण्ठ में है तथा (६) आज्ञाचक्र जो कि दोनों भौहों के मध्य माथे में स्थित रहता है।

कुण्डलिनी जाग्रत होते ही क्रमशः ऊपर के चक्रों के वेधनार्थ ऊपर चढ़ने के प्रयत्न में रहती है। जब यह कार्य पूर्ण कर लेती है, तब उसके लिए उत्तरी ध्रुव (सहस्रार) में पहुंचने का मार्ग खुल जाता है। फिर उसे कही किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ता।

सहस्रार में कुण्डलिनी विश्राम

कुछ अनुभवी योगियों का कहना है कि कुण्डलिनी जागते ही छओं चक्रों को वेधकर सीधी सहस्रार में पहुंचकर विश्राम लेती है। वहीं उसका मिलन परम शिव से होता है और फिर वह स्वयं अपना अस्तित्व मिटा बैठती है।

कुछ योगी ऐसा भी मानते हैं कि कुण्डलिनी जाग्रत होकर सभी चक्रों को क्रमशः एकसाथ ही बेधे, यह आवश्यक नहीं है। साधक की साधना और उसके अभ्यास के अनुसार ही वह चक्रों के जागरण में तत्पर होती है। यदि अभ्यास में प्रबलता नहीं तो जितनी प्रबलता होगी, उतनी क्रियाशीलता रहेगी और उसके फ़लस्वरूप एक–दो चक्रों का ही बे धन होकर रह सकता है। यह भी सम्भव है कि कुण्डलिनी का जागरण पूर्णरूप से न हो पावे और वह साधना की कमी होने पर पुनः सो जाए।

कुण्डलिनी जागरण से साधक में विशेषता

किसी मनुष्य में किसी ऐसी विशिष्टता का उत्पन्न होना जिसके होने का साधरणतः अनुमान न किया जाता हो, शक्ति जागरण का ही प्रतीक समझा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि साधक ने अत्यधिक योग साधनायें की हों अथवा आसन–प्राणायामों की विशेष विधियों का पर्याप्त अभ्यास किया हो।

कुण्डलिनी जागरण की बहुत कुछ निर्भरता ध्यान पर है, क्योंकि ध्यान में परमात्मा के साथ अभिन्नता का जब अनुभव होने लगता है तथा बाह्य विषयों के प्रति साधक का लगाव नहीं रहता। मन वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। इसी स्थिति को योगीजन प्रत्याहार कहते हैं। जब प्रत्याहार का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब तो ध्यान में तन्मयता बढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती।

प्रत्याहार की स्थिति हठयोगियों के लिए तो ४ स्तर (यम, नियम, आसन, प्राणायाम) पार करने के पश्चात् आती है। उसके पश्चात् धारणा और फिर ध्यान की अवस्था बनती है। जब ध्यान अत्यधिक दृढ़ हो जाता है तब समाधि लग जाती है। परन्तु योग में भिन्न प्रकार की साधनाओं में यम–नियम आदि का पालन न किए जाने पर भी ध्यान तो आवश्यक होता हैं, क्योंकि कोई भी साधना ध्यान के बिना सफल नहीं हो सकती। इस प्रकार ध्यान के बिना प्रभु प्राप्ति सम्भव नहीं है। जो लोग आत्मोपासक हैं, उन्हें भी आत्मा का

ध्यान करना पड़ता है।

ध्यान का प्रमुख उद्देश्य ईश्वर या आत्मा के रूप में मन को योजित करना है। यही तन्मयता साधन में सिद्धि का प्रमुख कारण होती है। यही तन्मयता नहीं तो सफलता को कोसों दूर समझिए। एक पहलवान अखाड़े में कुश्ती लड़ता है। तो उसे अपना ध्यान सामयिक दाव पेचों पर केन्द्रित रखना होता है। कोई खिलाड़ी खेलता है तो उसे भी खेल में तन्मयता तो रखनी ही होती है। परन्तु वह तन्मयता ध्यान के स्वल्पांश में रहती है, इस कारण उसका प्रभाव भी वहीं तक सीमित रहता है।

किसी ग्रन्थकार को लीजिए। जब तक वह ग्रन्थ के समायोजन में आत्मरत या तन्मय नहीं हो जाएगा, तब तक उसे आशानुकूल सफलता नहीं मिल सकती। ग्रन्थकार को विषयवस्तु की आत्मा में प्रविष्ट होना होता है, वह जितना ही तन्मय होगा, ग्रन्थ भी उतना ही अच्छा रचा जा सकेगा। स्वर साधकों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। नाद योगी तो स्वर के आश्रय में ध्यानावस्थित हो जाते हैं।

कुण्डलिनी जागरण की क्रियायें

और किसी भी प्रकार हो, ध्यानावस्था कुण्डलिनी जागरण में प्रमुख कारण बन जाती है। किसी भी प्रकार की ऐसी साधना जिसमें ध्यान की तन्मयता बनती हो, प्राण में अधि क गतिशीलता उत्पन्न कर देती है। और तब वह पर्याप्त रूप से गतिशील हुआ प्राण अपान को अपनी ओर आकर्षित करता

है जिसके फलस्वरूप प्राण और अपान के मिलने की क्रिया सम्पन्न होने लगती है।

उस समय अपान भी प्राण को अपनी ओर खींचता है क्योंकि आकर्षण तो अपान में भी है और प्राण–अपान की खींचा तानी में कुण्डलिनी की निद्रा भंग होने लगती है। उसका जागरण प्राण अपान के मेल से होता है।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्राण और अपान अधिक समय तक मिले रहें। उनका मिलन क्षणिक भी हो सकता है और अधिक समय भी रह सकता है। जितनी अधि क देर तक मिलन रहेगा, उतनी ही क्रियाशीलता बढेगी और कुण्डलिनी भी उतने ही समय जाग्रत रह सकेगी। यदि वह ठीक प्रकार से जाग्रत हुई तो साधक को अद्‌भुत क्षमताओं से सम्पन्न बना देती है। वह अपने में उन शक्तियों का अनुभव करने लगता है जिसका पहिले कभी न किया हो। वह शक्ति साहसिक कार्य, विद्वत्ता, कवित्व, नीति, संगीत आदि में प्रचुरता के रूप में भी हो सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शक्ति जागरण उतना हो चुका हो कि ऊर्ध्वगामिनी होकर शिव से तादात्म्य कर बैठी हो।

साधना जितनी ही सुदृढ़ होगी, अभ्यास जितना ही अधिक होगा, उतनी ही क्रियाशीलता बढ़ेगी और शक्ति जागरण की क्रिया भी उसी अनुपात में मन्द या अधिक होती है यदि उससे चक्र का कोई बेधन न भी किया हो तो भी कुछ न कुछ फल तो दिखाई दे ही सकता है।

इससे यह तथ्य सहज में ही समझा जा सकता है कि ध्यान भी ऊर्जा को प्रकट करने का एक विशेष साधन है। सर्ग के आदि में सब संसार का आरम्भ करना होता है, तब ब्रह्माजी ध्यान के द्वारा ही उत्पत्ति की समस्या का समाधान खोज पाते हैं। उन्होंने वेद ज्ञान का आविर्भाव भी ज्ञान के द्वारा ही किया था।

समस्त क्रियाओं का जनक ध्यान

संसार की समस्त क्रियायें ध्यान से उत्पन्न हुई हैं। संगीत, नृत्य, कवित्व आदि सभी ध्यान के विषय हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नाचने से भगवान् मिल जाते हैं और उनका यह अनुमान इस बात पर आधारित है कि मीरा को नाचते–नाचते ही भगवान् मिल गए। आज भी बहुत से भक्तगण नाचते–झूमते हैं, इस आशा में कि भगवान् मिल जायेंगे। परन्तु भगवान् मिलते उन्हीं को हैं जो उनमें तन्मय हो जाते हैं, जो ध्यान के द्वारा उनसे ऐक्य स्थापित कर लेते हैं।

मीरा, तुलसी, सूर आदि कवियों और सन्तों को– जिन्हें भी भगवान् के दर्शन हुए हों या परमपद की प्राप्ति हुई हो, उन्हें भी अगभ्य प्राप्ति का कारण ध्यान की तन्मयता ही हो सकता है। यह नहीं कि मीरा नाची और उसे भगवान् मिल गया। यह भी नहीं कि तुलसीदास जी ने रामायण लिखी और भगवान को पा गए। अथवा सूरदास ने पद रचना की और श्याममय हो गये। इन सबकी परमात्मा प्राप्ति का एक ही साधन था– ध्यान। वह जिस रूप का भी रहा हो, उसी रूप

की प्राप्ति होना सम्भव है।

ध्यान से ही सब कुछ सम्भव

किसी कार्य को उपेक्षापूर्वक करने से उतनी सफल्ता नहीं मिल पाती जितनी कि ध्यानपूर्वक करने से प्राप्त होती है। इससे अनुभव के आधार पर भी हम ध्यान की सर्वोपरिता स्वीकार करने के लिए विवश हैं। हमें यह मानना होगा कि ध्यान के बिना कुछ भी संभव नहीं है।

और वह ध्यान ही हमें नवीन शक्ति का अनुभव करा सकता है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए योगाचार्यों ने ध्यान को पाँचवे स्तर पर रखा है। पहले चार स्तर पार कर लो, तब ध्यान पर जाओ। यदि आरम्भ ही ध्यान से करोगे तो तन्मयता लाने के लिए अधिक अभ्यास करना होगा।

ध्यान में भी ऊर्जा निहित है, किन्तु वह तब तक प्रसुप्त रहती है, तब तक उसमें परिपुष्टता नहीं आती। ध्यान परिपुष्ट होता है तो ऊर्जा भी जाग उठती है, फिर तो शरीर में एक अद्‌भुत प्रकार की तरंगे उठने लगती हैं। प्रतीत होता है कि प्राण नाचने लगे हों। आँखें खुली रहे चाहे बन्द, बाह्य दृश्य दोनों अवस्थाओं में अन्तर्निहित हो जाता है। तब वही दिखाई देने लगता है, जिसे देखने की अभिलाषा होती है। अभिप्राय यह है कि मन और दृश्य एकाकार हो जाते हैं। उनमें काई भेद नहीं रहता।

ऊर्जा और सिद्धि

लोग कहते हैं कि बिना सिद्धि के ऐसा सम्भव नहीं। बात ठीक भी है। सिद्धि के बिना तो कोई भी कार्य सफल नहीं होता, परन्तु सिद्धि भावना के अनुसार मिलती है। उसके साथ साधना का योग भी होना चाहिए। साधना और भावना का एकीकरण ही बस सिद्धि को जन्म देने में कारण है जिसे असामान्य कह सकते हैं।

परन्तु प्राण को प्रखर बनाने उन्हें अधिक गति देने वाली ऊर्जा के लिए उत्कृष्ट प्रकार की साधना आवश्यक होती है। योग दर्शनकार ने लगभग तीस प्रकार की सिद्धियों की चर्चा करते हुए उन्हें आत्मोत्थान में विघ्नस्वरूप बताया है। अन्य मनीषीगण भी सिद्धियों को प्रभु प्राप्ति में व्यवधान ही मानते रहे हैं। इसलिए तुच्छ सिद्धियों की उपेक्षा रखना ही आत्म कल्याण का मार्ग समझना चाहिए।

यद्यपि साधना में जो सिद्धि मिलती है, वह भी ऊर्जा का ही एक रूप है। किन्तु शक्ति जागरण यानि सिद्धि उन क्षुद्र सिद्धियों से नितान्त भिन्न प्रकार की है। वह सिद्धि मनुष्य को देवता बना देने की सामर्थ्य रखती है। यह कार्य वस्तुतः नितान्त तन्मयता का परिणाम ही हो सकता है।

इस ऊर्जा को, दृढ़ उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त करना ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। परन्तु मनुष्य सांसारिक झंझटो के के कारण उस ओर से अनभिज्ञ रहता है। यदि वह उस उद्देश्य के लिए कटिवद्ध हो जाए तो प्राप्ति

भी बहुत दूर की बात नहीं होगी।

प्राप्ति के प्रकार

उद्देश्य की पूर्ति और उस दिव्य ऊर्जा की प्राप्ति कैसे हो? यह ज्ञान बहुत आवश्यक है। एकान्त स्थान चुनें, स्वच्छ और खुला, हुआ भी हो। आवश्यक होने पर वर्षा या धूप से बचने की भी व्यवस्था रहे। साधना के लिए समतल भूमि चुनें और प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर साधना आरम्भ करें।

शरीर को ढीला छोड़ दें। किसी प्रकार के तनाव की आवश्यकता नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि आप किसी विशेष विधि को ही अपनायें। आप गाकर तन्मयता ला सकते हैं तो गायें, जोर से बोलने में तन्मयता हो सकती है तो अवश्य ही जोर–जोर से बोलें। यह नहीं, यदि रोने से तन्मयता बन सकती है तो उसमें भी कुछ हानि नहीं होगी।

किसी भी विधि का अवलम्बन करें, आनी चाहिए तन्मयता। यदि मन में तन्मयता नहीं आती तो योग, जप, कीर्तन भजन सभी कुछ व्यर्थ है। योगीजनों के मत में तो चक्रबेधन में सफलता भी तन्यमता से मिल सकती है। उनका कहना है कि जिस–जिस चक्र में कुण्डलिनी का ध्यान किया जाएगा, वही–वही चक्र खुलता जाएगा और उसी–उसी में ऊर्जा के लिए मार्ग बनता जाएगा, परन्तु भक्तों में ध्यान की यह प्रक्रिया क्रमशः ही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ पहले मूलाधार चक्र में ध्यान करे, फिर स्वाधिष्ठान चक्र में और

तदुपरान्त मणिपूर चक्र में। इसी प्रकार क्रमशः अन्य ३ चक्रों में भी करना चाहिए।

ऊर्जा के प्रति समर्पण

अभिप्राय यह है कि ध्यान के साथ ऊर्जा के प्रति पूर्ण समर्पण भाव होना चाहिए। ध्यान का कोई भी प्रकार हो उसके लिए किसी प्रकार का निषेध नहीं समझना चाहिए। यदि ध्यान में तन्मयता आने लगेगी तो उसके साथ ही आपको कुछ ऐसा अनुभव होगा कि शरीर के भीतर वर्तुल सा बनकर ऊपर की ओर उठने लगा है।

परन्तु यह स्थिति आरम्भिक अभ्यास में ही सम्भव नहीं है। इसके लिए पर्याप्त साधना अपेक्षित है। केवल कुछ दिखावे मात्र से कार्य नहीं चल सकता। इस प्रकार के चंचल चित्त वाले अनेकों साधक वर्षों साधना करके भी सफलता से वंचित रह जाते हैं, इसका कारण चित्त में तन्मयता का न होना ही है।

असफलता का कारण

आप पूछ सकते हैं कि मन चंचल तो सभी का होता है, फिर भी वातावरण और आहार विहार का प्रभाव तो पड़ना ही चाहिए और ऐसा होने पर साधना में सफलता भी दुर्लभ नहीं होनी चाहिए। तब वर्षों तक साधना के पश्चात् भी असफलता रहने का क्या कारण है? इसका समाधान स्पष्ट है। वातावरण और आहार–विहार की उत्कृष्टता मन को अवश्य प्रभावित करती है, किन्तु फिर भी मन की चंचलता पर

नियन्त्रण बहुत कुछ अपने हाथ में है। जैसे बार–बार चोरी करने पर चोर पकड़–पकड़कर कारावास में बार–बार बन्द किया जाता है वैसे ही मन ज्योंहि बाह्य विषयों की ओर दौड़ें, उसे तुरन्त पकड़ कर अपेक्षित ध्यान में लगाने का प्रयत्न करो। ऐसा करते रहने से अभ्यास दृढ़ होने लगता है।

यदि तन पर नियन्त्रण का अभ्यास है तो ध्यान में प्रविष्ट होना विलम्ब का विषय नहीं रहता, क्षण दो क्षण में भी ध्यान की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। इसके विपरीत मन पर नियन्त्रण का अभ्यास न होने की स्थिति में वर्षों में भी सफलता सम्भव नहीं है।

शारीरिक ऊर्जा की दो प्रक्रियायें

एक शक्ति के दो परिणाम

जिस शक्ति की बात पहले कही जा सकती है, उसका नाम ऊर्जा है और आध्यात्मपक्ष में उसी को कुण्डलिनी कहते हैं। उसका अध्यात्मपक्ष तभी से बनता है, जब वह ऊर्ध्वगामी हो। इसके विपरीत यदि वह अधोगामी हुई तो उसका भौतिक पक्ष ही सिद्ध होगा।

मनुष्य के लिए जिन पदार्थों का निर्देश हमारे शास्त्रकारों ने किया है, वे कर्तव्य रूप से समझें जाते रहे हैं। यह पदार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। जो लोग सन्यास धर्म ग्रहण करें उनके लिए इसका विधान नहीं किया जाता।

कुण्डलिनी की सहायता से उक्त चारों कार्य सहजरूप से सम्पन्न हो सकते हैं, धर्म, अर्थ और मोक्ष यह तीनों कार्य भौतिक हैं। अब यह बात दूसरी है कि शक्ति को भौतिकता की ओर कितना खींचा जाता है क्योंकि उसे जितना, जिधर खीचोंगे उतना ही मनुष्य प्रभावित होगा, शरीर प्रभावित होगा, मन भी प्रभावित होगा।

ऊर्जा का खिचाव

यदि उस ऊर्जा को अधिक भौतिकंता की ओर खींचते हैं तो वह उसी क्षेत्र के लिए क्रियाशक्ति का रूप धारण कर देती है। वह कामुक विचारधारा के कारण काम शक्ति रूप

से शरीर में विद्यमान रहती है। कामेच्छा के कारण जब मनुष्य सम्प्रयोग में तत्पर होता है तब उसकी उन गतिविधियों के संचालन में कामशक्ति नाम से उसी ऊर्जा का प्रभुत्व रहता है।

इस प्रकार ऊर्जा का प्रवाह शारीरिक तृप्ति की ओर हो तो वह कामशक्ति होगी और यदि आत्मतुष्टि की ओर हो तो वही अध्यात्म शक्ति कहलाएगी क्योंकि आत्मा के हित में जो प्रवाह रहता है, वह ऊर्ध्वगामी होता है। कुण्डलिनी जागती है तो ऊपर की ओर चढ़ती है और वह अध्यात्म लाभ रूप परिणाम ही प्राप्त कराती है।

किन्तु सोई कुण्डलिनी अपने प्रभावों को अधोगामी रखती है। हम देखते हैं कि मनुष्य जागते में भी श्वाँस लेता है और सोते भी, श्वाँस क्रिया दोनों ही अवस्थाओं में होती रहती है। वैसे ही सोती हुई कुण्डलिनी भी प्रभाव तो छोड़ती है। वह सुप्तावस्था में अधोमुखी होती है, इस लिए उसका प्रभाव भी ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकता।

सोती हुई कुण्डलिनी का जागरण

और जागती कैसे वह? उसका सोना जागना सब मनुष्यों की श्वांस पर निर्भर है। यदि यह कहें कि कुण्डलिनी की सुषुप्ति और जागरण दोनों श्वांस के ही खेल तो हैं यह भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। श्वांस की समान्य स्थिति का उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वह सोती रहती है मजे में। जब साधक श्वांस की विशेश क्रिया द्वारा उस पर चोट पहुंचाता है तब उसे अनुभव होता है कि मुझे छेड़ा जा रहा है।

साधारण चोट की उसे परवाह नहीं। रामायण में कुम्भकर्ण के विषय में कहा जाता है कि वह इतना सुबक्कड़ था कि जब उसे जगाने की आवश्यकता होती, तभी उसके कानों पर ढोल बजाने पड़ते थे। कुण्डलिनी की शक्ति भी वैसी ही कुछ है। जब तक उसे श्वांस क्रिया द्वारा विशेष रूप से प्रताड़ित नहीं किया जाता, तब तक वह करवट बदलने का भी नाम नहीं लेती।

श्वांस-प्रश्वांस निरन्तर क्रिया

कोई भी जीव हो, श्वास तो निरन्तर लेनी छोडनी पड़ती ही है।यदि परिश्रम किया जाए तो श्वास के क्रम में, उसकी गति में कुछ अन्तर अवश्य आ जाता है। क्रोधावेश में श्वांस प्रश्वांस की गति कुछ और होती है तथा गति तेज हो जाती है। वह धक्के मारती है, भीतरी अवयवों पर किन्तु उन धक्कों का कुण्डलिनी पर कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता कि करवट बदल सके।

परन्तु विशेष श्वांस क्रिया के साथ जब ध्यान किया जाता है, तब श्वांस की चोट कुण्डलिनी स्थान पर पड़ती है, यह यदि प्रभावमयी हुई तो कुण्डलिनी को करवट बदलवा सकती है। इसलिए परमार्थ की अभीप्सा से युक्त मन की स्थिति में चोट कुछ जोर की ही करनी होती है क्योंकि सोई हुई कुण्डलिनी कुम्भकर्ण की तरह वरदान लिए है सोने का, उसका जागरण तीव्र आघात के बिना सम्भव नहीं है।

किन्तु काम या क्रोध की अवस्था से छुटकारा पाने के

लिए इससे विपरीत क्रिया करनी होती है। यदि काम या क्रोध को दबाना हो तो श्वांस को धीमा करो, उसे तीव्र मत होने दो। आप देखेंगे कि कामावेश या क्रोधावेश समाप्त होने जा रहा है। योगीजनों ने काम क्रोध की शांति का यह एक अचूक उपाय बताया है।

प्राणक्रिया या कुण्डलिनी पर प्रभाव

प्राणक्रिया का समूचे शरीर पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक अवयव प्राण से प्राणित है और जो जो अंग प्राण की कमी से दुर्बल या निष्क्रिय हो रहा है, उसे प्राणक्रिया के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा सबल सक्रिय बनाया जा सकता है।

यह बातें किसी शेखचिल्ली की सूझ नहीं, वरन् लाखों–करोड़ों वर्षो से किया जाता परम्परागत अनुभव है। यह एक ऐसा विज्ञान है जिसकी समानता अन्य कोई विज्ञान नहीं करता, क्योंकि शरीर और प्राण का अभिन्न सम्बन्ध है। प्राण तो जीवन है, जिस शरीर से प्राण चले जाते हैं वह मर जाता है। उसे कोई जीवित नहीं कह सकता।

तीव्र आघात वाली क्रिया

कुण्डलिनी को जगाने के लिए श्वांस की तीव्र आघात वाली क्रिया अपेक्षित होती है। उसी से उसके मूलकेन्द्र पर चोट पड़ सकेगी। परन्तु यह चोट एक दो दिन के अभ्यास में ही नहीं पहुँचाई जा सकती।

इसके लिए अधिक दिनों तक का अभ्यास अपेक्षित

होता है। अभ्यास करते–करते यह अनुभव होने लगेगा कि श्वांसक्रिया की चोट कहां–कहां किस–किस रूप में पड़ रही है। जब तक ऐसा अनुभव नहीं होता, तब तक चोट करना भी सुव्यवस्थित रूप से नहीं हो सकता।

यदि श्वांस की तीव्रता कुण्डलिनी को प्रभावित नहीं करती तो भी अधीर नहीं होना चाहिए। उसे धीरे–धीरे उचित ढंग से प्रयुक्त करना चाहिए। अभ्यास से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। किन्तु आरम्भ में नहीं क्योंकि कुण्डलिनी यौनकेन्द्र के समीप ही सोई पड़ी रहती है, इसलिए सम्भव है कि श्वांस की तीव्रता का आघात कुण्डलिनी पर न पड़कर यौनकेन्द्र पर ही पड़े।

और ऐसा होने पर पर कामोत्तेजना भी हो सकती है। उसे उत्तेजना का आभास होते ही श्वांस को कम करने और धीमे लेने का ध्यान रखा जाए इससे कामोत्तेजना पर सहज में काबू पा लिया जा सकता है। परन्तु उक्त स्थिति उत्पन्न हो तो यह समझ लेना चाहिए कि श्वांस का आघात ठीक से नहीं पड़ रहा है इसलिए सावधानी से पुनः अभ्यास किया जाए। अभ्यास बहुत बड़ी वस्तु है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है।

षटचक्र और उनकी सक्रियता

शरीर में विद्यमान ६ चक्रों का वर्णन किया जा चुका है। यह चक्र कुण्डलिनी यात्रा में वैसे ही स्थान रखते हैं, जैसे रेलगाड़ी के यात्रा मार्ग में स्टेशन होते हैं। कुण्डलिनी को इन

चक्रों के मार्ग से ही जाना होता है। इन्हीं स्थानों पर ऊपर की ओर चढ़ती हुई कुण्डलिनी विश्राम ले सकती है।

श्वांस की चोट आरम्भ में तो उन चक्रों पर ही होती है। जब तक वे चक्र प्रखर नहीं होते, तब तक कुण्डलिनी की गति में बाधक भी हो सकते हैं। गाड़ी के चलने से पहले उसकी पटरियों को जाँच लिया जाता है और यदि उसके बोल्ट आदि ढीले होते हैं, वे कस दिए जाते हैं।

कुण्डलिनी के मार्ग में आने वाली पटरियों और स्टेशनों की जाँच श्वांसक्रिया द्वारा स्वतः ही हो जाती है। उसके द्वारा सभी चक्रों को सक्रिय बनाने का कार्य आरम्भ हो जाता है। यही नहीं कि आगतों का कार्यारम्भ चक्रों से ही हो। साथ ही उनका प्रभाव विभिन्न केन्द्रों पर और कुण्डलिनी पर भी पड़ना आरम्भ हो जाता है।

व्यक्तित्व परिवर्तन की प्रक्रिया

और जब सब ओर आघात होने लगेंगे तो व्यक्तित्व में भी परिवर्तन आने लगेगा, साधक अनुभव करेगा कि मुझमें परिवर्तन होने लगा है। किन्तु परिवर्तन कितना, किस रूप में होता है, यह साधना और अभ्यास पर पूर्णतः निर्भर है।

आघात जिस–जिस केन्द्र पर होता है, वहीं–वहीं कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है, यह आघात ही व्यक्तित्व परिवर्तन की श्रेष्ठ क्रिया है। जैसे कोई मिस्त्री किसी मशीन आदि के पुर्जों को ठीक करने के लिए अपेक्षानुसार स्थान–स्थान पर ठोकता या पेच आदि कसता है तो वहीं–वहीं सक्रियता

बढ़ जाती है, वैसे ही शरीर के जिस–जिस केन्द्र पर श्वांस का आघात होता है, उसी–उसी में सक्रियता उत्पन्न हो जाती है।

एक बात समझो–हम जिस ओर अपना मन लगाते हैं, वह दृश्य सामने हो या न हो, मन में साकार हो उठता है। कोई पुरूष किसी स्त्री के विषय में कामुक विचार से सोचे अथवा कोई स्त्री किसी पुरूष के विषय में सोचें तो यौनकेन्द्रों में सक्रियता आ जाएगी और सोचने वाला कामावेश से भर जाएगा।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्त्री के निकट आते ही असमर्थ हो जाते हैं। किन्तु चिन्तन करें तो उनकी वासना अधिक बढ़ जाती है। लोग पूछते हैं कि ऐसा क्यों होता है? उत्तर स्पष्ट है–स्त्री सामने है, उस का प्रभाव मन पर उतना नहीं, जितना बाह्य अंगों पर होता है और मन के सहयोग के बिना बाह्य अंग उतने प्रभावशाली नहीं होते।

परन्तु चिन्तन समय

स्त्री सामने न हो तो बाह्य अंग उतने प्रभावित न होंगे, जितना मन। यह सभी जानते हैं कि मन की पकड़ गहरी होती है। वह विपरीत लिंग का चिन्तन करते ही कामुकता से भर सकता है। इस प्रकार बाह्य अंगों की क्रिया उतनी गहरी नहीं हो सकती, जितनी कि मन की होती है।

शक्तिपात ऊर्जा-जागरण में सहायक

शक्तिपात का अभिप्राय

शक्तिपात क्या है? कुछ लोग ऐसा प्रश्न करते हैं। प्रश्न स्वाभाविक तो है ही उपयोगी भी है। शक्तिपात का अभिप्राय है— किसी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति का अपने से न्यून शक्ति वाले व्यक्ति को अपनी शक्ति का अंश प्रदान करना।

और शक्तिपात का यह कार्य कोई भी सशक्त व्यक्ति कर सकता है। आप पूछ सकते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि एक व्यक्ति अपनी शक्ति का कुछ अंश दूसरे को दे दे? उसका उत्तर दो भागों में दिया जा सकता है— एक तो यह कि एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को शक्ति दिया जाना सम्भव है। यह क्रिया प्राचीनकाल से चली आ रही है और आज भी चल रही है।

दूसरे यह शक्तिपात मन से होता है। एक मन दूसरे मन की बात समझ सकता है, वह तत्वों का परस्पर आदान–प्रदान भी कर सकता है और उसके द्वारा शक्तिपात की क्रिया इस प्रकार सम्पन्न हो सकती है। आप किसी ऐसे शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के पास बैठे हैं जो अपनी शक्ति का अंश आपको देने की इच्छा करता है तो उसकी वह इच्छा और तुम्हारी शक्ति प्राप्ति करने की इच्छा मिलकर एक हो जायेंगी। इससे तुम्हारे सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव पड़ेगा और मन के माध्यम से प्रदत्त शक्ति का अंश उस व्यक्ति के पास पहुंचने लगेगा। अमुक व्यक्ति इसी विचार से अनेक साधु–सन्तों, मनीषियों के

दर्शन करते उनकी सेवा करते या सत्संग करते हैं उन्हें उनसे निहित शक्ति का कुछ अंश प्राप्त हो जायगा।

गुरूदीक्षा का अभिप्राय भी यही है। गुरू जब दीक्षा देता है तो अपनी प्राप्त शक्ति का भी अंशदान करता है। यदि गुरू समर्थ है तो शिष्य में गुरूदीक्षा का अवश्य ही शक्तिपात होगा और वह प्रायः गुरू के समान कुछ गुणों से लाभान्वित होगा। किन्तु यदि गुरू में वैसी शक्ति नहीं है, दिखावा मात्र है तो कोई लाभ नहीं हो सकता।

यही बात शिष्य के विषय में भी है कि यदि शिष्य गुरू के गुणों का अंश प्राप्त करने में अयोग्य हो तो भी शक्तिपात निरर्थक होगा। यह तो तभी सम्भव है जब गुरू और शिष्य दोनों ही उसके योग्य एवं अधिकारी हो।

शक्तिपात का अन्य प्रकार

शक्तिपात का एक अन्य प्रकार भी है– समान उद्देश्य वाले अनेक साधक एक साथ बैठे हुए साधना करें, ध्यान करें तो परस्पर में शक्ति पात की क्रिया तीव्रता से होने लगेगी। क्योंकि एक व्यक्ति की आकांक्षा में जितनी शक्ति होगी, उसी अनुपात से अन्य व्यक्तियों में शक्ति बढ़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति का श्वांस प्रश्वांस अन्य की श्वांस क्रियाओं के साथ इतना सबल हो जाएगा कि सभी ऊर्जा केन्द्र उसके प्रभाव से प्रभावित होने लगेंगे।

इस प्रकार सामूहिक ध्यान साधना या श्वांस–प्रश्वांस

साधना का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है और वहाँ सभी की मानवी विद्युत एक साथ मिलकर नवीन तत्वों को उत्पन्न करने लगती है। शक्तिपात की यह प्रक्रिया एक व्यक्ति के शक्तिपात से अधिक सबल सिद्ध हो सकती है। यदि साथ में साधना करने वाला व्यक्ति भी उतनी ही उत्कृष्ट इच्छा लिए हुए है।

मनुष्य के पास किसी भी साधना के लिए दो ही वस्तु प्रमुख होती हैं– (१)शरीर और(२) मन। शरीर मन की क्रिया का साधन भी है क्योंकि जो भी क्रिया की जाएगी, वह शरीर से ही करनी होगी। मन तो क्रिया में प्रेरक कार्य निबाहेगा।

यदि मन इस योग्य है कि वह शक्तिपात का लाभ उठा सके। तो शरीर भी उसके योग्य हो जाता है, परन्तु अकेला शरीर कितना ही योग्य हो, मन के बिना योग कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए शरीर और मन दोनों का परस्पर में एक दिशा में चलना आवश्यक होता है।

शरीर से श्वांसक्रिया होती है। योगासन एवं यम–नियमआदि का पालन भी शरीर से ही होता है। जो कार्य शरीर से करते हैं, यदि मन साथ दे तो उनके करने में अधिक कठिनाई या बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। साधक प्रयत्नों के द्वारा मन को भी अपने अनुकूल बना सकता है।

कुण्डलिनी और अनेक जन्मों के संस्कार

कुण्डलिनी के साढ़े तीन लपेटों में क्या–क्या छिपा है? यह तथ्य जानने में तो सरल नहीं है, किन्तु उसके

जागरण पर कुछ ऐसे अनुभवों का सम्बन्ध अनेक जन्मों से ही हो सकता है। संसार में ८४ लाख योनियां कही जाती है, न जाने किसे किस–किस योनि से निकलना पड़ा है। हो सकता है कि कीड़े–मकोड़े रहे हों, हो सकता है कि कोई जल जीव, पशु अथवा वानर आदि में से कुछ रहे हों। यह भी सम्भव है कि कभी वृक्ष ही रहे हों। यह भी समभव है मछली या कछुआ रहे हों।

जल की स्थिति का जितना अनुभव एक जल जीव को हो सकता है, उतना मनुष्य को नहीं हो सकता। परन्तु कुछ कुण्डलिनी शक्ति उस अनुभव के खेल में पहुंचेगी कि तब सहसा प्रतीत होगा कि जल में डुबकियां लगा रहे हैं। उस समय वही अनुभव होगा, जैसा उस जल जीव की योनि में हुआ होगा।

विभिन्न योनियों की अनुभूतियाँ

कीड़े–मकोड़े या पशु योनि में रहे होंगे तो उस परिधि के क्षेत्र में कुण्डलिनी के होने की स्थिति में वैसा ही अनुभव हो सकता है। वे सभी अनुभव मनुष्य योनि से भिन्न हो सकते हैं। उन अनुभवों के कारण कभी आश्चर्य हो सकता है और कभी भय भी कि वह क्या रहा है?

कुण्डलिनी जागती है तो मनुष्य को कुछ न कुछ बना देती है। साधरण मनुष्य हरा रङ्ग देखकर यही कहता है कि यह हरा रङ्ग है, वह उसमें निहित रङ्गों के विषय में कुछ भी नहीं समझता। वह यह नहीं जानता कि हरे रङ्ग की रचना

पीले और नीले रङ्गों के मिलने से हुई है।

परन्तु यह तो रङ्गों के मेल की ही बात हुई। वस्तुतः किसी भी रङ्ग को देखें, दिखाई तो एक ही पड़ेगा, किन्तु उसमें होते है सहस्र रङ्ग। प्रत्येक रङ्ग हजारों के योग से बनता है। स्थूल नेत्र उन हजारों रंङ्गों का अनुभव करने में समर्थ नहीं है, किन्तु कुण्डलिनी जागती है तो आन्तरिक नेत्र प्रखर हो जाते हैं और मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ का भी अनुभव करने में समर्थ रहता है।

अतीन्द्रिय अनुभव भविष्य ज्ञान

हम पुराणों में पढ़ते रहे कि हमारे अनेकानेक ऋषि–मुनि अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न थे। वे तीनों काल की बातें सहज में ही बता देते थे। सम्भव है आज भी कोई महात्मा हो जो अतीन्द्रिय अनुभव कर पाते हों, किन्तु वैसे महात्मा प्रायः जनसम्पर्क से दूर रहना पसन्द करते हैं। उनकी दृष्टि में छोटे–मोटे या ऊँच –नीच का भेद नहीं होता। वे न किसी विशिष्ट व्यक्ति को विशेषता देते हैं और न किसी सामान्य व्यक्ति की उपेक्षा करते हैं। उनका मुख्य उद्‌देश्य आत्मोन्नति के साथ लोक–कल्याण भी होता है। किन्तु वे राजनीति आदि से सर्वथा दूर रहते हैं।

एक महात्मा कहते हैं कि भगवान् गरीबों में सदैव जाग्रत रहते हैं। इसलिए उनका सदा सत्कार किया जाना चाहिए, किन्तु धनिकों और पदाधिकारियों को धन एवं पद का गर्व रहता है, इसलिए उनके अन्तर के भगवान् सोये रहते हैं।

इसलिए आवश्यक नहीं कि उनका सम्मान विशिष्ट व्यक्ति के रूप में किया जाए।

वे महात्मा बहुत कम बोलते थे और यदि कुछ कहते भी तो प्रायः मिथ्या नहीं होता था, इसलिए बहुत व्यक्ति उनके पास आने लगे। किन्तु एक दिन उन्होंने बहुत स्पष्ट कहा– सेवकों ! मुझ पर कृपा करो, आपके आने से मेरे भजन में विघ्न पड़ता है। अपने घर में बैठकर ही भगवान् नाम का जप करते रहो। जितना अधिक जप करोगे, उतना ही अधिक लाभ होगा। मेरे पास आने से तुम्हें कोई विशेष लाभ नहीं होगा, वरन् भजन के प्रताप से मेरे समान बन सकते हो।

मनुष्य से पशु-पक्षी आगे बढ़ गए

मनुष्य की अपेक्षा पशु–पक्षियों को अतीन्द्रिय अनुभव अधिक होते हैं। वे भविष्य को पहले ही से जान लेते हैं और यदि कहीं किसी खतरे का पूर्वानुमान होता है तो उधर जाना ही बन्द कर देते हैं। यदि निरन्तर आने या रहने वाला कोई पशु पक्षी सहसा आना या रहना बन्द कर दे तो यह सन्देह किया जा सकता है कि उस स्थान पर निकट भविष्य में किसी प्रकार का खतरा उत्पन्न हो सकता है।

सम्भव है कि कभी हम और आप भी उन पशु–पक्षियों की योनि में रहे हों, जिन्हें अतीन्द्रिय अनुभव होते रहे हों तो शरीर में जागरित हुई कुण्डलिनी यदि उस पशु–पक्षी वाली योनि की परिधि में पहुँच जाए तो आपको वैसा ही अतीन्द्रिय अनुभव करा सकती है और तब यह सम्भव है कि हमें या

आपको भूत, भविष्य का ज्ञान होने लगे।

हमारे योगी कहते रहे हैं कि नादयोग के अभ्यासी को दिव्य ध्वनियाँ सुनाई देने लगती हैं और वह ऐसा अनुभव करता है कि कभी बंशी बज रही है, कभी घण्टा बज रहा है, कभी मंजीरा बज रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य वाद्यों की ध्वनि भी सुनाई दे सकती है। बाद में जिस ध्वनि में चित्त रमता है, वही ध्वनि निरन्तर होती रहती है। उस ध्वनि में भी लय तानयुक्त संगीत लहरी प्रकट हो जाती हैं और साधक उस आनन्द में मग्न हो जाता है, जिसे रसानन्द कहते हैं। उसे सब समय रस ही रस का अनुभव होने लगता है।

रसात्मक ध्वनि और दिव्य सन्देश

उस रसात्मक लयन्तान में दिव्य सन्देश भी निहित रहते हैं। कौन सी लय–तान किस अभिप्राय को व्यक्त करती है यह अनुभव करते–करते निश्चय होने लगता है। जब अभिप्राय का निश्चय हो जाता है, तब मनुष्य उसी लय तानों के अनुभव पर आधारित त्रिकाल सन्देश प्रसारित कर सकता है। वह बता सकता है भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक संकेत–संदेश।

कुछ लोग शंका करते हैं कि कुण्डलिनी जाग्रत होने पर अक्षर क्यों नहीं सुनाई देते, जिससे किसी अभिप्राय का स्पष्ट ज्ञान हो सके। तो इस विषय में अनुभवी योगियों का कहना है कि अक्षर (स्वर एवं व्यंजन) भी सुनाई देते हैं, किन्तु उनका रूप आधुनिक नहीं होता। जो कुछ सुनाई देता है, वह

सब दिव्य ही होता है और उसका तात्पर्य–ज्ञान भी अभ्यास पर ही निर्भर है।

उसका एक कारण भी हो सकता है। जो कुछ सुनाई देता हो, संभव है कि वह आदिकालीन भाषा रही हो, क्योंकि भाषा का स्वरूप एक सा कभी नहीं रहा। समयानुसार उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। संस्कृत भाषा यद्यपि सबसे प्राचीन मानी जाती है, किन्तु काल का प्रभाव उस पर भी पड़ता रहा है और हम देखते हैं कि वैदिककालीन संस्कृत में और उसके बाद की संस्कृत में बहुत अन्तर मिलता है।

तो बात अतीन्द्रिय अनुभव की थी। कुण्डलिनी जागरण होता है तो अनेक प्रकार के अतीन्द्रिय अनुभव होने लगते हैं, उनका बहुत कुछ सम्बन्ध पूर्वजन्मों में प्राप्त विभिन्न योनियों से हो सकता है, उस योगशक्ति का भी कुछ प्रभाव हो सकता है जिसे साधन बनाकर हम अभ्यास की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

अनुभूतियों का उन्माद

और वे सभी अनुभूतियां अनजानी होती हैं और प्रतीत होता है, वह पहले कभी अनुभव में आया नही होता। जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो मनुष्य को उसके सामान्य अनुभवों से एकदम दूर कर देती है। वह किसी विषय विशेष का ज्ञाता हो सकता है, किन्तु तभी जब वह विषय उसके अनुभव में पहले कभी आ चुका हो। चाहे इस जन्म में अथवा किसी पूर्वजन्म में।

कुण्डलिनी के साथ अनुभूतियों का विशाल भण्डार लगा रहा है। किन्तु कुण्डलिनी सोती हो तो वह भण्डार भी दबा पड़ा रहता है। जब जागती है तो भण्डार उजागर हो जाता है, उस पर पड़ा हुआ आवरण स्वयं हट जाता है और उस समय उसमें विद्यमान अनुभूतियाँ सम्मिलित रूप से अनुभव देती हैं तो मनुष्य की स्थिति विक्षिप्त के समान प्रतीत होती है।

ऐसे व्यक्ति की चेष्टायें बदल जाती हैं। कोई–कोई साधक तो कभी हँसता है,कभी रोता है और कभी सोच मग्न हो निश्चय भाव से बैठ जाता है। देखने वाले समझ नहीं पाते हैं कि वह क्या सोच रहा है? उसके चिन्तन के साथ कोई अनुभूति है या वह किसी मानसिक जप में लीन है।

शक्ति-की अत्यन्त वृद्धि

किसी–किसी साधक की शरीरिक शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है, वह अपने बूते से कुई गुना भार को साधारण भार के समान उठा सकता है। उसमें साहस की वृद्धि इतनी हो सकती है बड़े–बड़े शक्तिशाली मनुष्य भी उसका सामना न कर पावें। परन्तु ऐसा मनुष्य किसी प्रकार के कलह में रूचि नहीं लेता, उसके कार्य प्रायः लोक कल्याणार्थ ही होते हैं।

पुराणों में कहा है कि एक महर्षि ने अन्जलि में पानी भर–भरकर पूरा समुद्र ही पी लिया था। परन्तु कैसे सम्भव हुआ होगा यह सब?

योगीजन मानते हैं कि कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जाग्रत हुई कुण्डलिनी सभी को समान शक्तिशाली बना देती है। साधक जिस शक्ति को अर्जित करता है, वह उसके पूर्वजन्मों की अनुभूतियों की ही देन हो सकती है और क्योंकि सभी के कर्म और अनुभूतियों में समानता नहीं होती, इसलिए कुण्डलिनी के जागने पर भी अवस्था में समानता होना सम्भव नहीं है।

मस्तिष्क शक्ति का विकास

कुछ साधकों की मस्तिष्क शक्ति बहुत बढ़ जाती है। इतनी अधिक कि पहले कभी उसका आभास ही न हुआ होगा। उस शक्ति में पूर्वजन्म की उस अनुभूति का प्रभाव रहेगा, जिसका सम्बन्ध ज्ञान–विज्ञान से रहा होगा, यदि वह अनुभूति उत्कृष्ट प्रकार की है तो साधक बहुत बड़ा प्रवचनकर्त्ता बहुत बडा कवि या बड़ा साहित्यकार भी हो सकता है जिसके प्रवचन, काव्य अथवा साहित्य में अलौकिक प्रतिभा का आभास मिल सकता है।

कोई भी विशेष गुण सामान्य अवस्था में भी पूर्व संचित संस्कार पर निर्भर समझा जाता है। यदि वह गुण सामान्य अवस्था में प्रतीत हो तो उसका सम्बन्ध अवश्य ही उन अनुभूतियों से होना चाहिए जो पूर्वजन्म कृत सुकृत के रूप में कुण्डलिनी की परिधि मे आ गई हों। इस प्रकार कुण्डलिनी की परिधि में आने वाली सभी अनुभूतियाँ साधक की वर्तमान

इच्छाशक्ति और क्रियाशीलता पर चोट करती हैं और उन्हें कार्य क्षेत्र में धकेलती है। यही कारण है कि जब पुरातन अनुभूतियाँ एकत्रित रूप से आक्रमण कर बैठती हैं तो साधक ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसमें उन्माद भर गया हो, उसमें विक्षिप्तता आगई हो। किन्तु वास्तव में उन्माद या विक्षिप्तता आती नहीं, वरन् अतीन्द्रियों के लिए क्षेत्र बनने लग सकता है।

उन्माद नहीं ऊर्ध्वगामी स्थिति

उस स्थिति को देखकर बहुत से व्यक्ति घबराने लगते है। किन्तु घबराने से क्या बनेगा? कोई लाभ नहीं होगा उसमें। वस्तुतः वह स्थिति अत्यन्त कल्याणकारी होती है, क्योंकि वह कोई उन्माद नहीं, ऊर्ध्वगामी स्थिति है। मनुष्य को नीचे से उठाकर ऊपर उठाकर ले जाती है। उसकी उन्नति का मार्ग खुल जाता है। फिर वह नीचे की बात नहीं सोचता।

यदि आप कहें कि जब मनुष्य विक्षिप्त जैसा प्रतीत होगा तो घबराहट स्वतः उत्पन्न हो जायगी, तब उसे रोका भी कैसे जा सकेगा? यद्यपि प्रश्न स्वाभाविक है तो भी उसका समाधान उससे भी अधिक स्वाभाविक होगा। कौन नही जानता कि भौतिक स्थिति और आध्यात्मिक स्थिति में धरती आकाश जैसा अन्तर रहता है। जब कुण्डलिनी जागती है तो साधक को भौतिकता से उठाकर आध्यात्मिकता में डाल देती है और वैसा होने पर उसकी सामान्य स्थिति का लोप होने लगता है। अध्यात्म उस पर हावी होता है, भागभंगी में अन्तर आना भी स्वाभाविक है।

अध्यात्म का स्थायी प्रभाव

सामान्य अवस्था में यदि मनुष्य अध्यात्म की ओर आकर्षिक होता है, यह नहीं कहा जा सकता कि आध्यात्मिक विचारधारा टिकाऊ रहेगी। मार्ग में अनेक व्यवधान उपस्थित हो सकते हैं, जिसके कारण हो सकता है कि मनुष्य आध्यात्मिकता पर पहुँच कर भी नीचे गिर जाए। अनेक साधु–सन्यासी अपने व्रत में गिरते देखे जाते हैं। उसका प्रमुख कारण वे व्यवधान ही है।

परन्तु कुण्डलिनी के जागरित होने पर उत्पन्न हुआ आध्यात्मिक परिवेश अस्थायी नहीं होता। ऐसे साधक का अध्यात्म दिनों दिन बढ़ता जाता है। यदि कोई व्यवधान उपस्थित हो जाए तो उत्थान रूक सकता है। किन्तु पतन की सम्भावना प्रायः नहीं रहती क्योंकि उसका चित्त स्वच्छ एवं स्वच्छी-हो जाता है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरान्त आध्यात्मिक क्षेत्र की परिधि से प्राप्त अध्यात्म में अस्थायित्व नहीं होता। वह मनुष्य ऊपर तो चढ़ सकता है, किन्तु जितना चढ़ चुका उसके नीचे नहीं उतरता। यह दूसरी बात है कि कोई बाधा उसे ऊपर चढ़ने से रोक दे और उसे पहुँचे हुए स्थान पर ही रूक जाना पडे।

शक्ति जागरण और परमात्मा की कृपा

जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत होती है, वह परमात्मा की कृपा का अधिक अधिकारी होता है, क्योंकि उसमें अहंभाव का अभाव हो जाता है। प्रभु की कृपा उसी को प्राप्त होती है,

जिसमें अहं न हो, जिसमें कोई कामना विशेष न हो।। निश्चय रखो कि सभी प्रकार उन्नति में अहंकार ही बाधा स्वरूप होता है। आत्मा तक पहुँचाने का साधन वह उपलब्धि है जिसमें अहंकार का लेश भी न रहे। जब तक वह रहेगा तब तक अध्यात्म की गाडी आगे नहीं बढ़ेगी।

और शक्ति जागरण के लिए जाने वाली तैयारी में जो वस्तु छोडने योग्य समझी जाती है, वह अहंकार ही है। यदि उससे छुट्टी पा ली तो समझो कि सफलता बहुत दूर की बात नहीं है। हमारे आचार्यों ने साधना के दो भेद किए हैं–सकाम और निष्काम। उनमें सकाम साधना तो भौतिक उद्देश्यों के लिए होती है, जबकि परमात्मा की प्राप्ति के लिए निष्काम साधना ही फलवती हो सकती है।

विश्वास कीजिए कि सकाम साधना से कोई कार्य सहज ही नहीं बन जाता। बहुत बार यह भी निष्फल हो जाती है और उसका कारण भी है। सभी फल तत्कालिक कर्म पर निर्भर नहीं करते। एक बार तो नये पुराने कर्मों को ही एक ही पंक्ति में खड़ा होना होता है। बहुत बार देखते हैं कि रेल या बस की टिकट लेने के लिए क्यू लगाना होता है, किन्तु कभी कभी कोई अधिक शक्तिशाली मनुष्य धक्का मुक्की के द्वारा आगे के लोगों को पीछे हटा देता है और स्वयं जाकर टिकट प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

प्रबल कर्म की बाधा

यही बात किए हुए कर्मों के विषय में है। सम्भव है कि

किया हुआ सकाम कर्म किसी पूर्वजन्म के प्रबल कर्म की बाधा से अधिक हो जाए और फल न दिखा सके। कभी कभी सकाम कर्म करने के पश्चात् जिसका विपरीत परिणाम दिखाई देता है। उसका कारण कुछ लोग यह समझते हैं कि कर्म ठीक प्रकार से नहीं हो पाया, उसमें कोई कमी रह गई होगी।

परन्तु तथ्य दूसरा ही है। वह कर्म अपनी किसी गड़बड़ी से, त्रुटि से बाधक हुआ हो या न हुआ हो, किन्तु प्रबलकर्म द्वारा अवश्य बाधित हुआ है क्योंकि प्रबल कर्म अपनी स्थिति या शक्ति के अनुसार अपने से हीन कर्म को धकिया कर प्रथम स्थान प्राप्त कर सकता है।

परन्तु निष्काम कर्म में ऐसा नहीं होता। किसी भी निष्काम कर्म को कोई सकाम कर्म नहीं दबा सकता। पूर्व संचित कर्म भी उसके फल में व्यवधान उपस्थित करने में समर्थ नहीं है। सभी निष्काम कर्मों में लक्ष्य परमात्मा है, इसलिए वैसे साधक पर परमात्मा की कृपा भी अवश्यम्भावी है।

और यह सभी ऐसे तथ्य है जिनका प्रतिपादन हमारे ऋषि महर्षि प्राचीनकाल से करते चले आ रहे हैं। उनका कहना है कि परमात्मा की सामान्य कृपा तो सभी को प्राप्त है, किन्तु विशेष कृपा की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य कामनाओं का परित्याग करके अहंकाररहित हो जाए। यदि कोई अहंकार रहते हुए समझे कि मुझे ईश्वर की विशेष कृपा प्राप्त है तो यह भी उसका अहंकार ही हो सकता है।

प्राण की महान शक्ति

प्राण ही जीवन है

समस्त प्राणियों के शरीर में जो जीवन दिखाई देता है, वह सब प्राण का ही खेल है। यदि प्राण नहीं तो जीवन भी नहीं। आधुनिक वैज्ञानिक जिस आक्सीजन को शरीर के लिए अत्यावश्यक मानते हैं वह दिव्य प्राण तो नहीं, किन्तु भौतिक प्राण अवश्य है। प्राण के कार्यक्रम एवं विद्यमान रहने के लिए आक्सीजन का महत्व नकारा नहीं जा सकता। जीवन और मृत्यु दो छोर हैं। आक्सीजन सम्भावनाओं में वृद्धि करती हैं, उसके सहयोग से दीर्धायु की प्राप्ति हो सकती है जबकि आक्सीजन की कमी आयु को घटाती है, क्योंकि उससे कार्वनडाईआक्साइड की वृद्धि होती है और वह कार्बन गैस जितनी बढेगी उतनी ही मृत्यु की सम्भावनाओं को भी बढ़ायेगी।

यह एक निश्चित तथ्य है कि सूर्य की रश्मियाँ आक्सीजन को साथ लाती हैं इस कारण सूर्योदय होते ही समूचे वायुमण्डल में आक्सीजन का प्रसार होने लगता है। फिर सूर्यास्त होते ही आक्सीजन के अनुपात में कमी होने लगती है और आक्सीजन के अनुपात में कमी का अभिप्राय है कार्बन की वृद्धि।

कार्बन का कार्य शरीर की कार्यक्षमता को घटाना है। यही कारण है कि रात्रि के समय नींद आसानी से आ जाती है, जबकि दिन में नींद आना कठिन होता है अथवा दिन में

अधिक नींद उन्हीं को आती है जो सुस्त या आलसी प्रकार के होते हैं।

आलस्य, कार्यक्षमता की कमी, सुस्ती और अज्ञान की वृद्धि में भी कार्बन का अधिक योग रहता है। इसी कारण रात्रि में फूल पत्ते भी कुम्हला जाते हैं। सभी संसार निद्रा की गोद में विश्राम करता है और प्रातःकाल होते ही लगता है कि सभी में नया जीवन आ गया है। पक्षियों की प्रसन्नता बढ़ जाती है, वे कलरब करते हुए अपना हर्ष करते हैं।

पक्षी ही क्यों सभी प्राणियों में प्रफुल्लता भर जाती है, हर्ष भर जाता है। प्रफुल्लता, प्रसन्नता, या हर्ष सभी कुछ प्राण की प्रखरता के कारण ही सम्भव है जो कि दिन का प्रकाश होने पर आक्सीजन की सहायता से उपलब्ध होती है।

प्राण की प्रखरता का महत्व

प्राण की प्रखरता का बडा महत्व है। उसमें जितनी ही प्रखरता होगी, प्राणी की क्षमता का उतना ही अधिक विकास होगा। प्राण सोता है तो कार्यक्षमता का भी दूर हो जाना भी स्वाभाविक है, परन्तु प्राण को अधिक सचेत रखने के लिए भी कुछ प्रयत्न करने होते हैं। यदि प्रयत्न किए जाते रहें तो संसार का कौन सा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्राण को प्रखर बनाना कुछ असम्भव कार्य नहीं है। योगीजन सदा इसी के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अष्टांग योग के ८ अंगों में से प्रथम ४ अंग तो वस्तुतः प्राण को प्रखर बनाने के उद्देश्य से ही अभ्यास में लाए जाते है।

प्राण की सामन्य क्रिया

सभी प्राणी निरन्तर श्वास लेते और छोडते रहते हैं। प्रकृति ने यह श्वांस–निःश्वांस क्रिया कुछ शुद्ध आक्सीजन प्राप्त होने के लिए ही निश्चित की प्रतीत होती हैं क्योंकि श्वांस लेने में बाहर से ग्रहण की गई वायु के साथ आक्सीजन का भी पर्याप्त अंश प्राप्त हो जाता है। जब श्वांस बाहर निकलता है, तब उसके साथ कार्बन भी शरीर से बाहर जाती है। इस प्रकार आक्सीजन प्राप्ति और कार्बन के निष्कासन की यह क्रिया अनवरत रूप से चलती ही रहती है।

और यह सामान्य क्रिया सभी में समान रूप से स्वतः ही रहती है। उसके लिए किसी को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। श्वास भीतर आती है तो आक्सीजन लाती है और बाहर जाती है तो कार्बन को निकाल ले जाती है। यह क्रिया शुद्धिकरण के लिए और प्राण को कार्यक्षम बनाये रखने के लिए बहुत आवश्यक एवं उपयोगी है।

प्राण को अधिक प्रखर बनाने की क्रिया

श्वांस निःश्वांस की समान्य क्रिया प्राण को सामन्यावस्था में ही रख सकती है। उससे किसी प्रकार की विशेषता का अनुभव नहीं होता परन्तु प्राण को अधिक प्रखर बनाये रखने के लिए प्राणक्रियाओं का अभ्यास करना होता है जिसे योगीजन 'प्राणायाम' कहते हैं। प्राणायाम के द्वारा प्राण को सामान्य स्थिति से हटाकर विशेष स्थिति में लाया जा सकता है क्योंकि शरीर में जितनी अधिक प्राणवायु पहुँचाई जाएगी,

तनी ही अधिक प्राण की प्रखरता बढ़ेगी। उतने ही अधिक र सोए हुए तत्व जागने लगते हैं

प्राणायाम का अभ्यास लुप्त आन्तरिक तत्वों को जगाने का अभ्यास है। वे तत्व जैसे–जैसे जागते हैं वैसे–वैसे ही शरीर और प्राण दोनों को अधिक क्रियाशीलता प्रदान करते जाते हैं और वैसा होने पर शरीर में विद्यमान आलस्य दूर होने लगता है जिसे अधिक नींद आती हो, वह यदि गहरे श्वास का अभ्यास करे तो उसकी नींद में कमी आ सकती है।

निरन्तर गहरे श्वास से सबसे बडा लाभ यही है कि शरीर में बनने वाले कार्बन की कमी होती है और आक्सीजन बढने लगती है और यह बताया जा चुका है कि कार्बन बढेगा तो अधिक सुस्ती और नींद आएगी क्योंकि कार्बन का कार्य ही सुस्ती और नींद लाना है। यदि कार्बन बनाने वाले पदार्थों से बचा जा सके और श्वास को गहरा किया जा सके तो सुस्ती से बचा जा सकता है। फिर उतनी नींद आएगी जितनी पहले कभी आती रही होगी।

कार्बन प्राण पर पर्दा डालती है, प्राणी को निष्क्रिय एवं अचेतन बनाने लगती है। उसके कारण निन्द्रा, तन्द्रा, मूर्च्छा सभी कुछ हो सकती है। सामान्यतः तो यह तीनों (निन्द्रा, तन्द्रा, मूर्च्छा) प्रकार भेद रहते हुए भी एक ही है।

यद्यपि प्रकृति कार्बन का निर्माण भी अनुपात में ही करती है परन्तु उसे सही अनुपात में ग्रहण करना न करना अपने हाथ की बात है। हम जितना भी भीड़–भाड़ मे रहेंगे,

अन्धकार में रहेंगे, उतनी अधिक कार्बन हमारे भाग में आएगी। इसीलिए हमारे आचार्य एकान्त सेवन का और खुले वायुमण्डल में रहने का निर्देश देते चले आ रहे हैं।

प्राणायाम से आक्सीजन वृद्धि

प्राणायाम की क्रिया आक्सीजन बढाने की मुख्य क्रिया है, उसके द्वारा शरीर में ऊर्जा बढ़ती है, क्रियाशीलता बढती है और सन्तुलन भी बढ़ता है। उसके फलस्वरूप आलस्य दूर हो जाता है और निरर्थक नींद तिरोहित हो जाती है। वस्तुतः इस नवीन अभियान के द्वारा शरीर एक विशेषता का, एक परिवर्तन का अनुभव करने लगता है।

और लोग समझते हैं कि प्राणायाम की बात कहना किसी पुरानी विचारधारा पर प्रकाश डालना है, जिसके अधिक अनु परिणामों की सम्भावनायें वर्तमान में बहुत कम रह गई हैं। परन्तु उनका ऐसा समझना एक भ्रान्ति है, क्योंकि प्राणायाम की क्रिया अनुभव में आई है और कोई भी अनुभव में आई हुई क्रिया नवीन हो या पुरानी, अनुभव के समान ही फल प्रदर्शित करेगी।

गहरे श्वास का प्राणायाम

प्राणायाम के विविध ढंगों को न अपनाकर केवल गहरे श्वांस का ही अभ्यास करे तो भी बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार कुछ दिनों तक ही अभ्यास करने पर यह तथ्य अनुभव में आ जाता है कि शरीर में कोई परिवर्तन अवश्य हो रहा है।

अब यह अभ्यास पर निर्भर है कि परिवर्तन की स्थिति कब उत्पन्न हो, मार्ग में किसी प्रकार की बाधा आ जाए तो उसका परिणाम प्रायः नगण्य ही होगा। परन्तु निरन्तर किया जाने वाला अभ्यास चाहे कितना ही थोड़ा क्यों नहीं हो, यह अधिक शीघ्र और ठोस परिणाम ही प्रदर्शित करेगा।

पहले कहा जा चुका है कि गहरे श्वास का प्रयत्न करना चाहिए। जितना सम्भव हो गहरे श्वास खींचो निरन्तर गहरे श्वास लो। दोनों नासाछिद्र से खींचो और दोनों से निकालो। परन्तु खीचने और निकालने की श्वासक्रियायें धीरे–धीरे की जानी चाहिए।

जागते-सोते में अन्तर

और इसी प्रकार का अभ्यास सामान्य और विशेष दोनों स्थितयों का अन्तर स्पष्ट कर सकता है, क्योंकि इस अभ्यास से जागरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सभी जानते हैं कि सोते हुए में जागते हुए में कितना अन्तर होता है। यह अन्तर नित्य ही स्पष्ट देखा जाता है। अभ्यास पूर्व जो चित्त सोया हुआ था, वह अभ्यास करने पर जाग उठता है तो उसमें पूर्वोक्त प्रकार का ही अन्तर दिखाई देने लगता है। वह अन्तर इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि तुम बदल गये हो, तुम्हारी क्षमता बदल गई है और तुममें एक प्रकार की नवीनता आ गई है।

और यह नवीनता जब और नवीन होती जाती है, तब तो बहुत कुछ समझने की आवश्यकता भी नहीं रहती। सब

कुछ स्वतः ही समझ में आने लगता है। उस समय प्राण की ऊर्जा एक अद्‌भुत शक्ति तथा एक अद्‌भुत ज्योति का प्राकट्य करती है। उस समय जो–जो उपलब्धियाँ होती हैं, वे अनुभवगम्य है, क्योंकि उसका कोई निश्चित प्रकार नहीं हो सकता।

आक्सीजन और प्राण ऊर्जा

चित्त सचेत होता है तो अन्य सोई हुई शक्तियां भी सचेत होने लगती हैं। उनके फलस्वरूप प्राण ऊर्जा का प्रवाह बदल जाता है, वह आत्मा की ओर बहने लगता है। कुण्डलिनी भी सुषुप्ति को छोड़ने लगती है। इस कारण जो ऊर्जा सामान्य स्थिति में शरीर की ओर प्रवाहित होती थी, वह उधर अधिक नही होती।

और जब तक प्राणऊर्जा का प्रवाह आत्मा की ओर नहीं होता, तब तक मनुष्य को आक्सीजन की अधिक आवश्यकता रहती है, किन्तु प्राण ऊर्जा के आत्मा को प्रवाहित होने की स्थिति में आक्सीजन की आवश्यकता भी घट जाती है क्योंकि उस समय तो प्राण के ही जागरण की अपेक्षा होती है, शरीर के जागरण की नहीं। शरीर सोने लगे तो किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती किन्तु प्राण प्रखर न हो तो स्थिति में किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न नहीं हो सकती है।

साधनापथ में अधिक आक्सीजन भी बाधक होती है, क्योंकि तब शरीर की अधिक सक्रियता प्राण को निष्क्रिय बनायेगी। इसीलिए शरीर सोता है सोने दो किन्तु प्राण को जाग्रत रखो। अब तो उतनी ही आक्सीजन अपेक्षित है, जितने

से कि जीवन चलता रहे। इसलिए अब अधिक श्वास की भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

और जब समाधि अवस्था पर पहुँच जाता है तब श्वास प्रश्वास का भी आभास नहीं रहता है, क्योंकि पूर्ण समाधि की स्थिति में श्वास रूक जाता है। परन्तु उस स्थिति का अनुभव वहां तक पहुंचे बिना नहीं किया जा सकता। अभ्यासकाल में जो श्वास को रोकने का अभ्यास किया जाता है उसका अनुभव तो तत्काल ही होने लगता है।

परन्तु समाधिकालीन श्वासावरोध के अनुभव में भिन्नता होती है उस स्थिति का अनुभव ध्यान की परिपक्व अवस्था में ही हो सकता है क्योंकि तब भी समाधि जैसी अवस्था हो जाती है। वस्तुतः साधक जितना ही गहरा जाता है, कम्पनी में उतनी कमी होने लगती है।

समाधि क्या है?

समाधि के विषय में बहुत बातें कही जाती हैं। योगाचार्यों ने समाधि के अनेक रूपों का वर्णन किया है। परन्तु मोटे तौर पर समाधि का अर्थ यह है कि जब पूर्णरूप से श्वास का अवरोध हो जाए, इसका भीतर बाहर आना जाना रूक जाए और चित्त अत्यन्त सन्तुलन की स्थिति में जा पहुंचे, वही स्थिति समाधि है।

परन्तु समाधि की अवस्था में मनुष्य को जीवन का नहीं, वरन् अस्तित्व का अनुभव होता है। उस अनुभव को अन्य

किसी प्रकार की अनुभूति की अपेक्षा भी नहीं रहती क्योंकि चित्त की स्थिति आत्मा पर पहुंचकर परमात्मा पर छलांग लगाने की होती है।

मनुष्य को जीवन का अनुभव तभी होता है, जब वह अस्तित्व की परिधि से बाहर आ जाता है क्योंकि अस्तित्व से हटने पर ही जीवन का आभास होता है। परमात्मा का भी अस्तित्व ही है, जीवन या मरण नहीं है और यही स्थिति आत्मा की है। वह भी जीवन–मृत्यु के परे केवल अस्तित्वमय ही है। तो जो वस्तु अस्तित्व से परे नहीं, जीवन–मृत्यु से परे है, उसके मरने की तो कोई आशंका ही नहीं है, तब उसे आक्सीजन की भी अपेक्षा क्यों हो?

बस यही समाधि है, उसी में आत्म अनुभव होता है। उसी के द्वारा अस्तित्व और जीवन के अन्तर का ज्ञान होता है। यही वह स्थिति है, जिसे अष्टांग योग का अन्तिम अंग कहते हैं। समस्त योग–साधनाओं का उद्देश्य इसी स्थिति पर पहुँचना है। समाधि में जब आत्मा के पश्चात् परमात्मा का अनुभव होता है तब वह महान स्थिति है। समस्त स्थितियां उसके समक्ष निरर्थक रहती हैं। यहाँ लौकिक क्रियाओं की अपेक्षा नहीं रहती, श्वांस या आक्सीजन की भी आवश्यकता अनुभव में नहीं आती क्योंकि वह अस्तित्व की सत्ता का अनुभव करती है, जीवन का नहीं।

सहज समाधि में अस्तित्व ज्ञान

समाधि, जिसके कई प्रकार आचार्यों ने बताए हैं।

उसके किसी भी भेद में मनुष्य को जीवन से ऊपर उठकर अस्तित्व का अनुभव हो सकता है। उस समय उसका चित्त निश्चय, निर्विकार एवं सत्य के अनुभव में लगा रहता है,, वह इधर–उधर घूमता नहीं, जहाँ रूकता है, वहीं स्थिर हो जाता है। उस समय उसे जीवन से कोई मतलब नहीं होता। उसे ध्यान नहीं रहता कि जिस जीवन का अब तक उपयोग किया, वह क्या है? कहां है? उसके ध्यान में रहता है केवल अस्तित्व जिसे सत्ता भी कहते हैं और जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए, तभी समाधि की अवस्था बन सकती है।

उस स्थिति में न वह बोलता है, न चलता–फिरता, खाता–पीता है, श्वास चलता तो है, किन्तु उसमें तालबद्ध होती है। एक प्रकार की ऐसी लय जिसमें दिव्य संगीत जैसा आनन्द आने लगता है। उस समय श्वांस–प्रश्वांस का कान नहीं रहता, वरन् ज्ञान रहता है उस रस लहरी का जो स्वतः नाद में निमग्न कर देती है। इस प्रकार की स्थिति जिसमें शरीर की तो बात ही क्या, जीवन का भी ध्यान न रहे , सहज समाधि कही जा सकती है।

सहज समाधिस्थ व्यक्ति की श्वास वस्तुतः सहज ही होती है उसकी गति में अस्वाभाविकता नहीं रहती, वरन् वह नपी तुली रहती है। श्वास कम होने के कारण लयबद्धता अधिक बढ़ जाती है और वह लय बद्धता एक प्रकार के छन्द की सृष्टि कर बैठती है और श्वास कम होती है तो आयु भी बढती है। आप अपने जीवन में जितने कम श्वास लेंगे, उतनी ही आयु बढ़ेगी। सुना होगा आपने कि आयु का परिमाण वर्षों से

नहीं श्वासों से माना जाता है। यह लोकोक्ति भी है कि मनुष्य तभी मरता है, जब उसके श्वास पूरे हो जाते हैं। इसलिए योगियों ने प्राणायाम में कुम्भक की विधि निकाली। क्योंकि कुम्भक की स्थिति में श्वास रूक जाता है।

पूर्ण जीवन के लिए पूर्ण श्वास

जों लोग पूर्ण आयु तक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि पूर्ण श्वास लेना ही उसका एकमात्र उपाय है। श्वास के साथ भीतर प्रविष्ट हुआ आक्सीजन दोनों फेफड़ों में पहुँचना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब पूर्ण श्वास ली जाए। पूर्ण श्वास की सिद्धि गहरे श्वास से सहज हो सकती है।

सामान्यतः फेफड़ों में पूर्ण श्वास पहुँचती नहीं वह किसी भी फेफड़ें के चौथाई से अधिक भाग तक नहीं पहुंच पाती। अधिकांश व्यक्तियों की श्वास तो उतने स्थान को भी व्याप्त नहीं कर पाती और जितने भाग में श्वास नहीं पहुंचती, उसमें विद्यमान कार्बन गैस उसे बेकार बनाए रखती है। यदि उस भाग में श्वास पहुँच सके तो क्या ही कहने? वैसा होने पर मनुष्य कुछ से कुछ हो सकता है। परन्तु समूचे फेफड़ों को श्वास प्राप्त करा देना कोई सामन्य बात भी नहीं है। फिर भी जितने अधिक अवयवों को वह प्राप्त हो सके, उतने ही अधिक अद्‌भुत हो सकते हैं।

आक्सीजन में वह शक्ति है कि कार्बन गैस को अपने साथ खींचकर बाहर निकाल दे। प्राणायाम की क्रियाओं के

द्वारा आक्सीजन को अधिक से अधिक अवयवों तक पहुंचाकर वहां की कार्बन गैस को बाहर निकाला जा सकता है। प्राणायाम एक साधन है जो शरीर को अपेक्षित मात्रा में आक्सीजन पहुँचाने में समर्थ है।

फिर बाह्य वायु में केवल आक्सीजन ही नहीं नाइट्रोजन, हाइड्रोजन प्रभृति अन्य अनेकों द्रव्य भरे पड़े हैं, वे सभी देहधारियों को जीवन देने में पूर्णरूप से सहायक है। यदि उनकी प्राप्ति अपेक्षित मात्रा में न हो तो रोगों की उत्पत्ति होकर जीवन खतरे में पड़ सकता है।

विभिन्न परिवर्तनों से निकलना

श्वासक्रिया का अभ्यास इसलिए एक उपयुक्त साधन माना जाता है कि उससे शरीर में अनेक बाह्य व आन्तरिक परिवर्तनों का अनुभव होता है। बहुत बार लगता है कि शरीर में गर्मी बढ़ रही है और वह यदि उसी प्रकार बढती रहे तो न जाने क्या हो जाए।

अनेक बार ठण्ड लगती है। प्रतीत होता है कि बड़ा जाड़ा पड़ रहा है। कभी न गर्मी रहती है, न सर्दी नितान्त तृप्ति का आभास होता है। परन्तु यह सब कभी किसी कारण विशेष से अधिक संभव है अन्यथा प्राणायाम के अन्त में शरीर के हल्केपन का अधिक अनुभव होता है। क्योंकि उस समय चित्त की स्थिति भौतिकता से उठी रहती है।

शरीर में भारीपन का अनुभव भौतिकता के कारण होता है क्योंकि बोझ या भार तो स्थूल पदार्थों में है सूक्ष्म में

नहीं, प्राणायाम के परिणाम स्वरूप स्थूलता में कमी आकर सूक्ष्मता बढ जाती है, इसी कारण हल्के पन का अनुभव होता है और शरीर का हल्कापन मनुष्य के स्वस्थ होने का भी सूचक है। कोई भी भार अस्वस्थ मनुष्य को अधिक भारी बना देता है, किन्तु स्वस्थ होने की स्थिति में भार का अनुभव ही नहीं होता है। यदि शरीर में कही कष्ट ही नहीं तो शरीर के भार का अनुभव क्यों हो?

स्वस्थ मन वाले मनुष्य विदेह कहलाते रहे हैं। विदेह का अर्थ है, जिसके शरीर न हो। किन्तु विदेह कहलाने व्यक्ति सशरीर ही रहते थे उसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने शरीर से रहते हुए भी शरीर का कभी अनुभव नहीं किया और उस शरीर का अनुभव न होना विदेह स्थिति का ही सूचक नहीं है पूर्ण स्वास्थ्य का भी सूचक है।

अनुभूतियों की भिन्नता

और कभी गर्मी का अनुभव तो कभी ठण्ड का या और भी अनेक अनुभव जिसका सामना साधक को करना पड़ता है, निरर्थक नहीं है। वे सभी शरीर की स्थितियों में परिवर्तन के सूचक हैं। ऐसे परिवर्तन तब तक होते रहते हैं, जब तक मनुष्य पूर्णरूप से बदल नहीं जाता।

शरीर एक प्रकार का मकान है। आवश्यक होने पर बहुत बार मकान के अनेक भागों में परिवर्तन करने होते हैं और वैसा करने में अनेक वस्तुयें तोड़नी होती है। कुछ ऐसी भी होती हैं जो तोडने का सिलसिला लगाने पर स्वयं टूट जाती

हैं। परन्तु उनका स्थान नवीन सामग्री लेती है तो परिवर्तन स्पष्ट प्रतीत होता है।

उसी प्रकार जब हम अपने को बदलना चाहते हैं तो न जाने क्या क्या टूटता सा प्रतीत होता हैं। परन्तु वह वास्तव में टूटता नहीं, बदलने का ही उपक्रम होता है। इसी कारण साधक को विभिन्न प्रकार के ऐसे अनुभव होते हैं जो उसे असामान्य प्रतीत होते हैं। परन्तु जब परिवर्तन पूर्ण हो जाता है तब वैसे अनुभव नहीं होते। वैसे ही जैसे मकान के पूरी तरह बदलकर बन जाने पर उसके टूटते–बनते समय के अनुभवों का स्मरण तक नहीं रहता और सभी कुछ सामान्य प्रतीत होता है।

उस पूर्ण स्थिति पर पहुँचने पर भी सावधानी बहुत आवश्यक होती है। बहुत से व्यक्ति साधना में कुछ सफलता दिखाई देने पर ही समझ लेते हैं कि सिद्ध हो गए और फिर वह अपने अभ्यास के प्रति भी उपेक्षा भाव रखने लगते हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि पग–पग पर सावधानी अपेक्षित होती है। जरा चूके कि पुनः जहां से आरम्भ किया था, वहीं पहुंचने की आशंका रहेगी।

साधक को सजगतापूर्वक आगे बढ़ते हुए अपने को पूर्णरूप से दांव पर लगा देना चाहिए। जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए तक तक दृढ़तापूर्वक बढते रहना चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो असफलता से बचा जा सकता है।

आन्तरिक अनुभूतियाँ

यदि पूर्ण शक्ति लगा दी गई तो अनेक प्रकार की आन्तरिक अनुभूतियाँ हो सकती है। किन्तु उनमें इतनी सूक्ष्मता होती है कि सहज में उनका अर्थ समझ में नहीं आता, साधक सोचता है कि ऐसा अनुभव जो मुझे हुआ है, किस अभिप्राय का बोध कराता है?

बहुत सोचने पर भी उनकी समझ में कुछ नहीं आता किन्तु कुछ लोग उसकी तह पर पहुँच भी जाते हैं। जीवन में अनेक घटनायें घटती हैं, किन्तु आवश्यक नहीं कि वे सभी समझ में आ जाती हों। स्वप्नों को ही लीजिए–मनुष्य सोता है। उसे अनेक प्रकार के दृश्यों से युक्त स्वप्न दिखाई देने लगते हैं। परन्तु उन दृश्यों का रहस्य समझ में नहीं आता। क्योंकि उनके साथ किसी प्रकार का तारतम्य बनता नहीं और तार न बने तो समझ में कैसे आए?

इसी प्रकार अभ्यास–काल के अनुभवों की विचित्रता साधक को भ्रम में डाल देती है, कुछ को तो ऐसे अनुभव होते हैं जिसके कारण घबराहट होने लगती है। यह अनुभव कहीं हमारे लिए घातक न बन बैठे। परन्तु घातक कोई भी अनुभव नहीं होता, यदि आशंका छोड़कर निरन्तर बढते चलें तो अन्त में वह रहस्य भी समझ में आने लगता है जो उन अनुभूतियों में समाविष्ट प्रतीत होता था। इसलिए यह आवश्यक है जब तक उनका अन्तिम समाधान हो जाए तब तक प्रयत्न न छोड़ा जाए।

साधक का कर्तव्य है कि वह साधना की भी स्थिति पर निराशा को न आने दे क्योंकि निराशा तो मृत्यु के समान है जिसके द्वारा प्राणी को अवनतिं, अन्धकार एवं विनाश ही दिखाई दे सकता है। अतएव निराशा को त्यागकर आशा और विश्वास का आश्रय लेना चाहिए। विद्वानों का स्पष्ट मत है कि आशा ही जीवन है। यदि जीवित रहना चाहते हो तो आशा को कभी न छोड़ो। आशा का सम्बल लिए बढ़ते चलेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी।

अनन्त सम्भावनाओं वाला केन्द्र

सामान्य और विशेष शक्ति का भेद

यह तथ्य वे योगी ही जानते हैं, जिन्हें कुण्डलिनी शक्ति के विषय में कुछ ज्ञान अथवा अनुभव प्राप्त हो चुका है। केन्द्र का अभिप्राय उस भण्डार से है, जिसमें सभी समाया हुआ हो अथवा सुरक्षित रखा हुआ हो। जैसे किसी कोषागार में मुद्रा आदि के रूप में धन संचित रहता है ओर उसकी रक्षा के लिए पहरेदार नियुक्त रहते हैं। यदि पहरेदार को झपकी आ जाए तो भी सुरक्षात्मक व्यवस्था के कारण उसका निकलना प्रायः सम्भव नहीं होता।

कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य शरीर में विद्यमान अनन्त सम्भवानाओं वाले कोषागार की सुरक्षा में तत्पर रहती है। वह उसे अपने नीचे रखकर इस प्रकार सो जाती है, जिससे कि वह धन छिपा पड़ा रहे। उस धन को निकालने का प्रयत्न किया जाएगा तो कुण्डलिनी भी जागे बिना न रहेगी।

परन्तु कितने मनुष्य जानते हैं कि उनके अपने शरीर में वह केन्द्र विद्यमान है? वही केन्द्र सामान्य स्थिति में मनुष्य को शक्ति देता रहता है। आप पूछेंगे कि उस पर तो कुण्डलिनी सो रही है, वह शक्ति कैसे देगा? तो सुनो! भट्टी में आग जल रही हो, वह अपनी परिधि में गर्मी अवश्य फेंकेगी जब तक बुझेगी नहीं, तब तक गर्मी देती रहेगी।

और मनुष्य शरीर में विद्यमान वह केन्द्र कभी बुझता नहीं। सुप्त पड़े रहने में और बुझने में बडा अन्तर होता है। जैसे आग के ऊपर राख आ जाए तो यह ऊपर से सुप्त प्रतीत होगी, किन्तु बुझेगी नहीं और जब वह बुझ जाए तो उसमें गर्मी भी न रहेगी।

गुप्त ऊर्जा केन्द्र से भी शक्ति

इस प्रकार सोता हुआ ऊर्जा केन्द्र भी अपनी तरंगों से कुछ शक्ति तो सदैव देता ही रहता है, किन्तु वह शक्ति है कितनी? समूची शक्ति तो दो तीन प्रतिशत शेष सत्तानवे अट्ठानवे प्रतिशत शक्ति तो केन्द्र में ही रह जाती है और यदि उसका उपयोग न हो तो अनन्तकाल में वह भी नष्ट हो जाती है।

परन्तु जब वह क्रियाशील होता है, तब मनुष्य को अपनी विशेष शक्ति प्राप्त कराता है। उसका क्रियाशील होना कुण्डलिनी के जागरण पर निर्भर है। परन्तु इस केन्द्र में जो सुख है, उसका अनुभव सभी को समान नहीं होता, उसमें कर्मानुसार भिन्नता हो सकती है। परन्तु मनुष्य क्षमतागत दृष्टि से सभी समान हैं। उनमें शक्ति का कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं है, जो उसकी सभी बातों में दूर–दूर रख सके। यदि भेद है तो केवल शक्ति उपयोग का ही है ओर वह उपयोग मनुष्य की अपनी अनुभूतियों से सम्बन्धित है।

और कुण्डलिनी की कार्यक्षमता भी उसी पर निर्भर है। सम्भव है कि उसका जागरण इतना धीरे–धीरे हो कि

आरम्भ में उसका अनुभव स्वयं को भी न हो सके। फिर वह ज्यों–ज्यों जाग्रत होगा, त्यों–त्यों सक्रियता में वृद्धि होती जाएगी। मनुष्य की शक्ति बढेगी, स्वास्थ्य बढेगा, कार्य क्षमता में वृद्धि होगी, रूप में निखार आएगा, शरीर सुगठित होगा।

जाग्रतशक्ति का चेतन पर प्रभाव

सदा जाग्रतशक्ति चेतना को प्रभावित करती है। यदि वह अर्द्ध जाग्रत होगी तो आधी शक्ति सक्रिय होगी अथवा कम ज्यादा होगी तो सक्रियता कम या अधिक होगी।

और शक्ति कम है या अधिक, इसका ज्ञान पहले से नहीं हो पाता। जितने भी महापुरूष हुए हैं, वे अपनी शक्ति के विषय में तभी जान पाए जब महान हो गए। उससे पहले यदि वे अपनी महानता की बात भी कहते तो लोग हंसी उडाए बिना नहीं रहते। कहते देखो, कैसा महान बनता है?

परन्तु महान् बनने बालों को उन व्यंग्य–वाणी की चिन्ता नहीं होती। बुद्ध, महावीर, जीसस सभी उन व्यंग्य वाणों का शिकार होते रहे किन्तु अपने कार्यक्षेत्र से पीछे न हटे। उसका परिणाम चाहे कुछ भी हुआ हो। उन्हें कार्य करने से मतलब रहा था, परिणाम से नहीं। यदि परिणाम को देखते तो कार्य ही नहीं कर सकते।

चेतन-अचेतन का भेद

परन्तु केन्द्र और शक्ति में बड़ा अन्तर है। उतना ही अन्तर जितना कि शरीर और आत्मा में होता है। देहाभ्यासी मनुष्य शरीर और आत्मा में अन्तर नहीं मानते, इसलिए उनका

प्रेम शरीर से ही बहुत होता है। परन्तु जो आत्मज्ञानी हैं, उनके लिए आत्मा ही सब कुछ है, वे उसी की उन्नति चाहते हैं। उनके लिए शरीर का कोई विशेष महत्व नहीं। महत्व है तो इतना ही कि शरीर स्वस्थ रहना चाहिए, जिससे आत्मा उसमें बनी रह सके।

और आत्मा ही को जान लेना परमात्मा को भी जान लेना है। आत्मा अंश है तो परमात्मा अंशी। सिद्धान्त रूप से आत्मा–परमात्मा में कोई भेद नहीं है। इसलिए योगी या ज्ञानी पुरूष आत्मा को जानना आवश्यक मानते रहे हैं। केन्द्र जिसमें अनुभूतियों का भण्डार भरा पडा है, अचेतन है, जबकि कुण्डलिनी शक्ति चेतन है। केन्द्र के जागरण का अर्थ है उस का अनावरित हो जाना, क्योंकि जब तक अनावरित रहता है, शरीर में भी असामान्य क्रियाशीलता नहीं आ सकती। परन्तु केन्द्र में अपनी निज की कोई गति नहीं है। जिस वस्तु में गति नहीं, कम्पन नहीं, जड़ कहलाती है।

और कुण्डलिनी जागती है तो उसमें गति होती है, कम्पन होता है। वह जागते ही सर्वप्रथम अपने केन्द्र का अनावरण करती है। वहाँ विद्यमान प्रत्येक अनुभूति का निरीक्षण करती है और उसे आकर्षित करती चलती है। उसके आकर्षण की परिधि में आने वाली प्रत्येक अनुभूति मनुष्य को अपने स्वभाव क्षेत्र में लाती है ओर तब मनुष्य भी उस अनुभूति से तादात्मय स्थापित कर लेता है। वह वैसा ही होने लगता है जैसी अनुभूति होती है।

विशेष अनुभूतियों के परिणाम

उन अनुभूतियों की परिधि में बहुत से व्यक्ति जा पहुंचते हैं। सूर, तुलसी, कवीर आदि अनेक कवियों ने जिस ढंग से भगवान का यशोगान किया उसमें चरित्र की सामान्यता होते हुए भी वर्णन शैली ओर विविध स्थानों में मौलिकता का होना उनकी विशेष अनुभूतियों का ही परिणाम था। कुण्डलिनी का जागरण होता है तो वह सभी असामान्य द्वारों पर चोट करती है। उन चोटों के प्रभाव से द्वार खुलने लगते हैं। उनके खुलने पर अनेकों अलौकिक अनुभव होने लगते हैं, जिसका ज्ञान इन नेत्रों से नहीं होता, वह भी होने लगता है।

बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के समान अन्तः इन्द्रियां भी विद्यमान हैं शरीर में। जो शब्द बाहरी कान नहीं सुन पाते, उन्हें सुनने में अंतःश्रोत सहायक हो सकते हैं। जो दृश्य बाहरी नेत्रों से दिखाई नहीं देते, उन्हें देखने में अन्तर्दृग सहायक होते हैं।

दो प्रकार के चक्षु

सूर ने कितनी बडी काव्य रचना की। वे नेत्रहीन थे। उनके अनेक वर्णन ऐसे हैं, जिन पर कोई आंखों वाला ही प्रकाश डाल सकता है। इससे स्पष्ट है कि सूर के अन्तर्दृग खुले थे, जिनके द्वारा उन्होंने अनेक दृश्यों का अनुभव किया और शब्दबद्ध कर दिया।

सम्भव है आप न जानते हों कि अनेक जीवों के दो प्रकार के नेत्र होते हैं– नकली और असली। नकली आंख

केवल दूसरों को भ्रम में डालने के लिए होती है कि आक्रमणकारी आंखे फोडना चाहे तो नकली आंख को ही फोड़ सके। उनको देखने की आंखे तो दूसरी ही होती है। मछली को ही लीजिए, वह अपनी पूंछ से देखती है।

मक्खी को लीजिए कितना छोटा सा जीव है, जो घरों में स्वच्छन्दता से उडता है, उसमें देखने की भारी क्षमता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मक्खी की आंख हजार टुकडों से बनी होती है। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, कि आंख का किसी निश्चित स्थान पर या बाहर रहना आवश्यक नहीं है। वह जहाँ भी होगी अपना कार्य और जितनी क्षमता होगी, उतना ही अधिक देख पाएगी। जैसे मक्खी की दर्शन क्षमता अधिक है तो वह अधिक देख पाती है। जैसे सूर के बाह्य आंखें नहीं थी तो उन्होंने आंतरिक नेत्रों से बहुत कुछ जान लिया था।

आत्मानुभव का साधन शक्ति जागरण

शक्ति जागरण के बिना मनुष्य पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता और पूर्णज्ञान के बिना आत्मानुभव की सम्भावना भी नहीं रहती। कुन्डलिनी जागती है तो आन्तरिक इन्द्रियों में भी सजगता आ जाती है, जिसके कारण एक दिव्य यात्रा का आरम्भ हो जाता है।

यही जागी हुई कुण्डलिनी विभिन्न अनुभूतियों को समेटे और उनका अनुभव कराती हुई आत्मा तक छलांग लगती है। कुण्डलिनी की उसी छलांग में साधक को एक दिव्य आनन्द की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि आत्मा का अनुभव इस लोक का सबसे बड़ा अनुभव है। उसमें विश्व का समस्त आनन्द भरा है। जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए अन्जाना कुछ भी नहीं रहता और जो पा लेता है, उसके लिए दिव्य उपलब्धि का मार्ग खुल जाता है।

यद्यपि आत्मा तक पहुँचना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वहाँ से भी आगे बढ़ना है। इतना आगे कि परमात्मा की प्राप्ति हो सके। जब आत्मा परमात्मा के मिलन के लिए लालायित होती है, तब सभी बाधायें हट जाती हैं। उस समय सर्वोत्कृष्ट आनन्द की उत्पत्ति होती है। परमात्मा की प्राप्ति से बढकर अन्य कोई आनन्द नहीं है।

सभी साधनों का अन्तिम लक्ष्य परमात्मा है। यद्यपि उसकी प्राप्ति की अभिलाषा अनेकानेक साधक करते हैं। तो

भी उनकी प्रगति में पडने वाला व्यवधान उस सीमा तक पहुंचने ही नहीं देता। जो पहुंचते हैं, वे उससे उत्कृष्ट कहीं कुछ नहीं पाते, इसलिए उसी में रमना चाहते हैं। क्योंकि वहां आनन्द है जो कही नहीं है तो उस आनन्द तक पहुंचने के पहले संसार के सर्वोच्च आनन्दरूप आत्मा को जानना और उसका अनुभव करना चाहिए। उसके जाने बिना परमतत्त्व का जानना सम्भव ही नहीं है।

बाह्यरूप का विलीनीकरण

आत्मा का अनुभव होते ही साधक अपने को ब्रह्यरूप से खोने लगता है, उसकी वासनायें मिटने लगती हैं। विद्वानों का मत है कि यदि कुछ प्राप्त करना है तो वासनाओं को खोना होगा। जब तक वासना नहीं सोती, तब तक आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता।

योगाचार्यो ने इसलिए प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार की व्यवस्था की है। उसमें मन को बाह्य विषयों से खींचकर अन्तर्मुखी किया जाता है। उसकी सिद्धि होने पर साधक का सिद्ध बनना आरम्भ हो जाता है। अष्टयोग का छठा अंग 'धारणा' तभी सिद्ध होता है जब प्रत्याहार का अभ्यास पूर्ण हो जाता है।

धारणा का अभिप्राय है पंचभूतों का विजय करना। यदि इन पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो भौतिक जगत की कोई क्रिया ऐसी नहीं, जो अनजानी रह सके और जब सभी क्रियाएं आ जायें तो संसार में कुछ भी किया जाना

असम्भव नहीं।

योगाभ्यास और शक्ति जागरण

यह सब बातें योगिक शक्ति की है। कुण्डलिनी जागरण में भी योगाभ्यास किया जाता है। पहले बता चुके हैं कि शक्ति जागरण विशेष ध्यान से सम्बन्धित है और ध्यान तो अष्टांग योग का सातवा अंग है ही।

योगांगों में भी जितना आगे बढोगे, अपने को खोता हुआ अनुभव करोगे। उस खोने में भी आनन्द है, आत्मा मिलती है तो आनन्द का अनुभव होता है क्योंकि आत्मा निरानन्द नहीं है। परमात्मा सत-चित् आनन्दस्वरूप कहा जाता है। और आत्मा भी उसका अंश होने के कारण वैसा ही है। परन्तु मनुष्य में सत्-चित् गुण तो दिखााई देते हैं, आनन्द गुण प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह विविध विकारों के आवरण में ढका रहता है।

यदि आत्मज्ञान हो गया तो फिर अहंकार के लिए स्थान नहीं रहता। जन्म से बना हुआ 'मैं' जब तिरस्कृत होता है, तब वह भी बुरी तरह झंझोड़ डालता है। भला कोई क्यों चाहेगा अपना अस्तित्व खोना।

परन्तु आत्मज्ञानी का संकल्प दृढ़ होता है। इसलिए अहं के कुपित होने पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वह उस प्रहार को शांतिपूर्वक सहन कर लेता है, जो उसके अहं नाश में बाधक सिद्ध होते हैं।

आत्म-प्रवेश की साधना

कुण्डलिनी जागरण की जो साधना है, उसकी सिद्धि अद्‌भुत परिणाम उत्पन्न कर सकती है, क्योंकि साधना शरीर से आत्मा में पहुँच की साधना है। उसके जागरण से पूर्व जो शक्ति दिखाई देती है, वह साधारण शक्ति है। उतनी ही, जितनी से मनुष्य की जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। परन्तु उस शक्ति से कोई असामान्य अनुभव नहीं किया जा सकता।

कुण्डलिनी का जागरण प्रायः एक बार से ही नहीं हो जाता। वह धीरे धीरे होता है। कुछ साधनों के अभ्यास की तीव्रता इतनी अधिक होती है, वह एक साथ पूरी तरह जाग जाती है, किन्तु सभी में इसकी समानता नहीं रहती। वह चाहे एकदम जागे अथवा धीरे–धीरे उसके जागरण से शरीर के अंन्य ऐसे द्वार भी खुलने लगते हैं, जिनका ज्ञान सामान्यतः नहीं होता। परन्तु जब ये द्वार खुलते हैं तब उसके साथ ही बहुत से अतीन्द्रिय अनुभव हो जाते है।।

परन्तु यह सब प्राप्त करने के लिए साधना करना आवश्यक होता है। बिना परिश्रम के कहीं कुछ भी नहीं पाया जाता। किसी उपलब्धि के लिए उसके पहले तैयारी करनी होती है। परन्तु यह तैयारी कोई ऐसी नहीं, जैसे किसी सामान्य यात्रा की तैयारी करनी हो, क्योंकि वह यात्रा मनुष्य की नहीं, शरीर में विद्यमान कुण्डलिनी की है। सभी जानते हैं कि कार्य के अनुरूप ही तैयारी करने से कार्य बन सकता है,

यदि इस का ध्यान न रखा जाए तो प्रायः सफलता नहीं मिल पाती।

ध्यान प्रयोग एवं सक्रियता की वृद्धि

ध्यान जो अष्टांग योग का सातवां अंग है, एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आन्तरिक शक्ति व ताजगी प्राप्त की जा सकती है। योगियों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी ध्यान को उपासना का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है। अनेक धर्माचार्यों ने ध्यान को धर्म के साथ भी जोड़ा है और पूजनादि में भी ध्यान को आवश्यक बताते हैं।

और यह मानना होगा कि जिस उपासना में ध्यान को प्रमुखता दी गई, वह अधिक प्रभावकारी हो सकती है। वस्तुतः इन्द्रियाँ अर्न्तमुखी हो जाती हैं, जिसमें आन्तरिक इन्द्रियों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। बाहर से प्रतीत होता है, जैसे कुछ थकान बढ रही हो।

परन्तु निश्चय ही थकान मन को नहीं थका सकती। ध्यान का प्रभाव निरन्तर आन्तरिक चक्रों पर पड़ता रहता है। उससे जिस ऊर्जा की वृद्धि होती है, वह अनुभूति का समरूप है, जो अनुभव करता है वही उसे ठीक से समझ पाता है, ध्यान की परिपक्वता जब कुन्डलिनी पर प्रहार आरम्भ करती है तब शक्ति के जागरण की तैयारी होती है। उस पर ज्यों–ज्यों प्रभाव पडता है, त्यों–त्यों आन्तरिक सक्रियता में वृद्धि होती है, किन्तु शरीर में थकान आने लगती है। अन्तर जितना जगेगा, बाहर उतनी ही थकान का अनुभव होगा।

परन्तु शारीरिक थकान का कारण क्या हो सकता है? विद्वानों का कहना है कि यह एक स्वाभाविक परिणाम है, क्योंकि ध्यान में शरीर और इन्द्रियों में तादात्म्य का आविर्भाव होता है। वह तादात्म्य ही तो ऊर्जा के जागरण में सहायक है। इसलिए आरम्भ में थकान तो प्रतीत हाती है, किन्तु धीरे धीरे थकान घटती जाएगी और ताजगी का अनुभव होने लगेगा।

शक्ति-जागरण व उपलब्धि की यात्रा

लक्ष्य पर यात्रा की समाप्ति

शक्ति जागरण का आरम्भ परमात्मा की ओर यात्रा का आरम्भ ही है। यह यात्रा स्थूल से आरम्भ होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म के लक्ष्य पर समाप्त होती है। यह स्पष्ट है कि स्थूल सीमित एवं एकदेशीय है, जबकि सूक्ष्म अत्यन्त व्यापक ओर महान है। उसी महान् को सर्वसमर्थ, सर्वकल्याणकारी सर्वेश्वर कहते हैं।, वही प्राणी का साक्षी और उसके द्वारा किए हुए कर्मो का फल देने वाला है।

जब कुण्डलिनी जागने लगती है तब वह उस व्यक्ति को उसके अपने व्यक्तित्व का बोध कराती है। जब वह जागकर ऊपर चढने को उद्यत होती है तब मनुष्य समझता है कि मुझे व्यक्तिगत रूप से कुछ अनुभूतियाँ हो रही हैं। बस, इससे आगे की बात वह सोच नहीं कर पाता। साधक क्षुद्र अनुभूतियों अथवा सिद्धियों में ही अपने को धन्य मान लेता है। और उसका प्रयत्न आत्मा पर पहुंचने से पहले ही रूक जाता है। बहुत हुआ तो आत्मा पर जाकर ही रूक गये।

और आत्मा पर ही रूक जाने से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि वहां तक अहंभाव शेष है और समष्टि की ओर बढ़ना सम्भव नहीं होता। अनेक विद्वान आत्मज्ञान को ही परमज्ञान मानते हैं, किन्तु वह परमज्ञान है नहीं। वह तो

अधूरा ज्ञान है। आत्मा तक पहुँचने पर आधा ही अनुभव होता है।

दूसरे शब्दों में तो वह अनुभव आधा भी नहीं है, क्योंकि आत्मा से परमात्मा तक पहुँचने की यात्रा में जितनी विलक्षण अनुभूतियां हो सकती हैं, आत्मा तक की यात्रा में नहीं हो सकती। उसका प्रमुख कारण आत्मा तक की यात्रा पूर्वजन्मों की अनुभूतियों से भरी होती हैं। वे अनुभूतियां वस्तुतः भौतिक अनुभूतियाँ ही हैं। जिसमें कुछ अपूर्वता का आभास रहने के कारण दिव्यता का भ्रममात्र होता है।

फिर आत्मा से आगे यात्रा का आरम्भ होता है तो उसमें भौतिक अनुभूतियाँ घटती जायेंगी और पारलौकिक अनुभूतियों का आरम्भ हो जाएगा। इस यात्रा में व्यक्तिवाद का स्थान समष्टि ले लेगा। यहाँ तक कि समष्टिवाद के अन्तराल में आत्मा तक विलीन होने लगेगा।

अनुभव कीजिए कि जब आत्मा ही विलीन हो जाए, तक शेष क्या रहेगा? सोचिए कि जब सब कुछ खो जाता है तब क्या शेष रहता है? हमारे प्राचीन आचार्य न जाने कब से घोषणा करते चले आ रहे हैं कि सब कुछ विलीन होने पर एक परमात्मा ही शेष रह जाता है।

आत्मा-परमात्मा का स्वरूप

समस्त आत्मायें उसी परमात्मा में समाविष्ट हो जाती है, क्योंकि वह सभी का आश्रय स्थान है। सभी उत्पत्ति उसी से हैं। परमात्मा अंशी है तो जीव उसका अंश। जैसे पानी के

सागर में घड़ों पानी डालते जाइए तो भी सागर में विलीन हो जायेगें। उन घड़ों के पानी का सागर पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इसी कारण आत्मा से आगे की यात्रा समाप्त हो जाती है। वही क्या, सभी यात्राओं की समाप्ति परमात्मा पर ही होती है क्योंकि परिपूर्ण वहीं है। अन्य जो कुछ भी है, यह सभी अपूर्ण है।

इस प्रकार परमात्मा की यात्रा में आत्मा का विलीनीकरण होने पर मनुष्य संसार के सभी जीवों और सभी दृश्यों को परमात्मा रूप देखने लगता है। क्योंकि उसके मन में केवल परमात्मा तक पहुँचने की ही उत्कृष्ट कामना रहती है। धीरे–धीरे यह अनुभव होने लगेगा कि हमें सब कुछ प्राप्त हो रहा है और जो भी प्राप्त हो रहा है, वह ऐसा है जिसे अनुपम कह सकते हैं। परन्तु सब कुछ की प्राप्ति कोई अन्तिम प्राप्ति नहीं है। वहां तक पहुंचने पर भी यात्रा बहुत बाकी रह जाती है। यदि सब कुछ प्राप्ति पर रूक जाए तो भी लक्ष्य की प्राप्ति तो नहीं हुई। हाँ, यह समझ सकते हैं कि उस सर्वप्राप्ति में कुछ बड़ी सिद्धियाँ समाविष्ट हो सकती हैं, जो साधक को सिद्ध बना देती हैं।

और उससे भी आगे बढें तो जिस–जिस प्रकार का अनुभव होता है, वह भी विलीन हो जाता है। सर्वस्व प्राप्ति के अनुभवों के साथ जितना आगे बढेंगे, उतना ही वे अनुभव अपने में खोते जायेंगे। विलीनीकरण की यह दौड़ अन्त में सब कुछ

विलीन कर देगी। यहाँ तक कि आत्मा के पश्चात् परमात्मा भी विलीन हो जाएगा। वह अहं मिट जाएगा कि मैं परमात्मा हो गया, क्योंकि अहं के मिटने पर ही उस शून्य की प्राप्ति हो सकती है, जिसे मोक्ष अथवा निर्वाण कहते हैं।

जब तक सिद्धियाँ रहती हैं, तब तक अहंकार रहता है। सिद्धि क्षुद्र हो चाहे महान, अहंकार को उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकती। कोई भी सिद्ध चाहें, कितना भी कहें कि मैं अहंकार से परे हूँ, किन्तु वह परे नहीं हो सकता। यदि सिद्ध है तो अहंकार भी अवश्य है। इसलिए योगीजन सिद्धियों से बचने का निर्देश देते हैं।

शून्य एवं निर्वाण की ओर

परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है क़ि साधक आत्मा को भूले और फिर परमात्मा को भी भूल जाए। यदि ऐसा कर सका तो शून्य अथवा निर्वाण की ओर बढ़ता जा सकता है। उस अवस्था में अनुभूतियों का विलीनीकरण होने लगेगा और सभी इच्छाभिलाषायें समाप्त हो जायेंगी।

कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा सत्य नहीं। उनके मत में शून्य सत्य है, परमात्मा सत्य नहीं। वे शून्य को ही अभीष्ट समझते हैं, पूर्ण में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं। परन्तु उनकी धारणा में कुछ ऐसा लगता है कि कही मतिभ्रम हुआ हो। कहीं ऐसा चूक गए हों उनके विचारों में कि वे शून्य का भी सही अर्थ नहीं समझ पा रहे।

वस्तुतः जो पूर्ण है वही शून्य है। पूर्ण में और शून्य में कोई अन्तर नहीं है। जरा शून्य बनाकर तो देखो– वह बिल्कुल गोल बनेगा, उसकी गोलाई कहीं से काटी नहीं जा सकती और जब शून्य को काट नहीं सकते तो उसे अपूर्ण भी कैसे कहे सकते हो। यह सभी जानते हैं कि शून्य का अर्थ क्या है? शून्य उसे कहते हैं जिसका कुछ आकार न हो। हम कागज पर या अन्य किसी वस्तु पर जो बिन्दु बनाकर कहते हैं कि यह शून्य है, वह वस्तुतः शून्य नहीं,शून्य का प्रतीक मात्र है। जब प्रतीक को भी कहीं से नहीं काट सकते तो असली शून्य को कैसे काट सकेंगे?

उपनिषदों का भी मत है कि शून्य सदैव सत्य है, क्योंकि वह मिटाया नहीं जा सकता, क्योंकि शून्य से शून्य के लिए जाने पर भी शून्य ही शेष रहता है और सदैव् शेष रहता है, वह अशेष कैसे हो सकता है? उसे असत्य कैसे कह सकते हैं? फिर जो अशेष नहीं होता, वह अवश्य ही पूर्ण है। इसलिए यह मानना भ्रम ही होगा कि परमात्मा सत्य नहीं। अभिप्राय यह है कि जो परमात्मा है, यही शून्य है पूर्ण और परमात्मा भी वह है।

और पूर्ण का तात्पर्य तो आप जानते ही होंगे। जो पूर्ण है उसमें बढ़ने की कोई गुँजाईश नहीं, उसका किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं, वह घटेगा नहीं तो बढ भी नहीं सकता। वह न संकुचित होगा न विस्तरित, क्योंकि वह तो स्वभाव से ही विकसित एवं असीमित है। पूर्ण वहीं हो सकता है जिसकी कोई सीमा न हो। यदि सीमा हुई तो पूर्ण भी नहीं

और शून्य भी नहीं।

यथार्थ और भ्रम

तो जो लोग शून्य को सत्य मानें, वे यथार्थ पर तो हैं। किन्तु उन की यथार्थता के साथ कुछ भ्रम भी जुडे हुए हैं। जहाँ भ्रम का योग होता है, वहाँ बुद्धि को कुछ समझना है। जैसे कि रस्सी का सर्प या सीप की चाँदी दिखाई देने लगती है! यही कारण है कि परमात्मा को असत्य मानने वाले लोग शून्य को सत्य मानकर भी उसकी महिमा से अनजान हैं, यह निश्चय है कि जो शून्य को सत्य मानकर परमात्मा अमान्य करते हैं वे शून्य के प्रतिपादन द्वारा परमात्मा का ही प्रतिपादन करते हैं।

अभिप्राय यह है कि जब हम लक्ष्य प्राप्ति की ओर उन्मुख होते हैं, तब 'मैं' अथवा 'अहं' को भूल जाना होता है। उस अवस्था में आत्मा भी विलीन होती है और परमात्मा भी। अन्त में रह जाता है शून्य और वही शून्य मनुष्य के अहंकार पर चोट करता है, वह अहंकार को मारने में कटिवद्ध हो जाता है। जब अहंकार मर जाता है, तब शून्य तत्व के पूर्णत्व अथवा मोक्ष रूप परमात्मा की ही प्राप्ति हो सकती है।

स्वयं को मिटाने पर अनन्त की उपलब्धि

लोग अनन्त की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। कुछ चाहते हैं कि मोक्ष, निर्वाण या अपवर्ग मिल जाए। कुछ कहते हैं कि हमें मोक्ष या निर्वाण से क्या लेना–देना? बस भक्ति से ही अभीष्ट पूरा हो सकता है। कुछ जप तप आदि

साधनों को ही प्राथमिकता देते और भक्ति को व्यर्थ बताते हैं। कुछ यज्ञादि कर्मों से तो कुछ अभ्यास में मुक्ति मानते हैं।

भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जिसे मैं अपना भक्त बनाना चाहता हूँ, सर्वप्रथम उसके वैभवरूप अहं को ही नष्ट करता हूँ।' इससे स्पष्ट है कि वैभव और अहं परमात्मा की प्राप्ति में बाधायें हैं। इसका नष्ट होना आवश्यक है।

जीसस की फिलासफी भी हमसे दूर नहीं गई है, वरन् कहीं–कहीं तो हमारा समर्थन करती ही प्रतीत होती है। वह कहते हैं कि जो स्वयं को बचाने की चेष्टा करेगा वह बचेगा नहीं, उसे तो मिटना ही होगा। किन्तु जो अपने को मिटा लेगा, वह बच सकेगा।

और सम्भवतः सभी सम्प्रदाय, सभी धर्म, सभी मत किसी न किसी रूप में इस सिद्धान्त का अनुमोदन करते हैं। अपने को मिटाने का अर्थ अहं को खो देना है। जब तक अहं के साधन नष्ट नहीं हो जाते, तब तक मनुष्य का सामान्य से आमान्य होना किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

यह सभी जानते हैं कि अन्त सभी का है, मिटना सभी को है, कोई आगे कोई पीछे। जब मिटना ही है तो बचाव से क्या होना है? इसलिए बचाव की चिन्ता करना ही व्यर्थ है, क्योंकि वह चिन्ता ही तुम्हें उत्थान की ओर नहीं बढने देती।

किन्तु जब उस प्रकार की चिन्ता का लोप हो जाता है, तब वचाव का कार्य स्वतः होने लगता है। बहुत से विद्वान

कहते हैं कि भगवान् के भरोसे रहो, उसमें तुम्हें कुछ करना नहीं होगा। वे ही तुम्हारा योगक्षेम देखेंगे, वे ही तुम्हारी सब व्यवस्था करेंगे।

यह पूर्ण समर्पण की बात हुई। भगवान पर निर्भर रहने का अभिप्राय बहुत स्पष्ट है। उससे बचाव की चिन्ता नष्ट हो जाती है, जो कुछ है वही है, जिस पर मेरी निर्भरता है। यही स्वीकार कर लेना अपने को मिटा देना है।

तो जीसस का कथन कुछ यथार्थ नहीं, उसके अपने अनुभव की बात हो सकती है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने जो कुछ कहा वह भी अनुभव जन्य ही है। आज उनके सभी अनुभव क्रियात्मक कसौटी पर खरे उतरते जा रहे हैं।

विवेकी पुरूषों की कसौटी

यह कसौटी विवेकी पुरूषों को ब्रह्म की ओर यात्रा करने की प्रेरणा देती है। उसमें निहित है कि खरा वही है जिसमें यथार्थ की चमक है, जिसका वर्णन स्वाभाविक है। यदि कसौटी उसकी स्वाभाविकता को चुनौती देती है तो समझना होगा कि यात्रा की तैयारी पूरी नहीं हुई। हमारे शास्त्रों ने 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान दिया। 'ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। इस मान्यता में 'तू' के लिए कहीं स्थान नहीं है, क्योंकि तू को खोने में ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। 'तू' का अभिप्राय पराये से है, जब परायेपन का बोध मिट गया तो रह गया 'अहं' अर्थात् मैं। किन्तु यह मैं अस्थायी है, टिकाऊ नहीं हो सकता। इसे भी खोना होगा। जब 'मैं' खो जाएगा तभी

ब्रह्म मिलेगा।

और कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब यात्रा के लिए तैयार हो जाता है। वह उन्मुख होती है तो सबसे पहले 'तू' पर प्रहार करती है। उसके पश्चात् उसका आक्रमण 'मैं' पर होता है। उसका मुख्य 'उद्देश्य' तू और मैं दोनों को खो देना है क्योंकि कुण्डलिनी की यात्रा परमात्मा तक की यात्रा है जिसकी सम्पन्नता तू और मैं दोनों के मिटाने पर ही सम्भव है।

सूक्ष्म शरीरों की रचना

मानव देहों का सात शरीरों में विभाजन

संसार में स्थूल और सूक्ष्म दोनों की विद्यमानता है। किन्तु लौकिक दृष्टि से स्थूल को ही प्रमुखता दी जाती है। सभी जानते हैं कि आत्मा और शरीरों में अत्यन्त भिन्नता है, किन्तु समस्त व्यवहारों में शरीर ही प्रमुख रहता है।

अनेक व्यक्ति भ्रमवश शरीर को ही आत्मा माने हुए हैं, इसलिए शरीर से प्रेम करते हैं। परन्तु शरीर भौतिक है, उसमें स्थूलता है, जब कि आत्मा अभौतिक व सूक्ष्म है। इस प्रत्यक्ष अन्तर के अतिरिक्त विद्वानों ने और भी अन्तरों पर प्रकाश डाला है। उन अन्तरों के विषय में ठीक से समझ लिया जाए तो अनेक शंकाओं का समाधान स्वतः हो सकता है।

सभी तथ्यों को ठीक प्रकार से जानने के लिए मानवदेह को ७ भेदों में बाँट सकते हैं। यथा (१) भौतिक शरीर जिसे स्थूल शरीर या फिजीकल बाडी कहते हैं। यह शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। (२) भाव शरीर जिसे आकाश शरीर या ईथरिक बाडी कहते हैं। (३) सूक्ष्म शरीर या एस्ट्रल बाडी, (४) मानस शरीर या मेंटल बाडी, (५) आत्म शरीर या स्प्रिच्युल बाडी, (६) ब्रह्म शरीर या कास्मिक बाडी, (७) निर्वाण शरीर वाडीलेस बाडी।

विभिन्न शरीरों का विकास काल

प्रथम स्थूल शरीर का विकास होता है। प्रत्येक शरीर का विकास एक के बाद क्रमशः होता है और प्रायः प्रत्येक के विकास में सात वर्ष लगते हैं। जन्म से ७ वर्ष की आयु तक प्रथम शरीर भौतिक या स्थूल शरीर का विकास होता है। इन सात वर्षों में शारीरिक विकास के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का विकास नहीं होता। न बुद्धि बढ़ती है, न कोई भावना ही। बहुत से व्यक्ति केवल शारीरिक विकास को ही पूर्ण विकास मान लेते हैं। और वे उससे आगे की बात नहीं सोचते, इसलिए उनका भौतिक शरीर तो विकसित होता रहता है, किन्तु वे बुद्धि के विकास से वंचित रह जाते हैं। ७ वर्ष की आयु व्यतीत होने पर भी उनके भाव–शरीर का विकास नहीं हो पाता।

दूसरे भाव शरीर का विकास

यद्यपि अन्य सभी शरीर बीजरूप में विद्यमान रहते हैं, किंतु उनका विकास अपने समय में ही होता है। भाव शरीर का विकासकाल मनुष्य की ७ से १४ वर्ष की आयु तक माना जा सकता है। परन्तु जो बालक केवल भौतिकता में ही रमे रहते हैं, उनका भाव शरीर अविकसित ही पड़ा रहता है तथा उनकी स्थिति वही होती है जो एक पशु की होती है, क्योंकि पशु का भौतिक शरीर ही विकसित होता है।

जो लोग सभी प्रकार से विकासशील होते हैं, उनके भाव शरीर का विकास ७ से १४ वर्ष की आयु में होता है। यह आयु भावनात्मक वृद्धि की आयु मानी जाती है। भावपक्ष में

अधिक दृढ़ता और परिपक्वता रहने के कारण १४ वर्ष की आयु में यौन विकास भी होता है।

बहुत भक्ति भाव विकास से आगे नहीं बढ़ पाते। १४ वर्ष से अधिक आयु वढ़ने पर भी उसमें विचारशीलता एवं विवेक–बुद्धि की कमी रहती है। उनके जीवन में कामुकता, विलासिता, दुर्व्यसन आदि का अधिक समावेश होता है।

तीसरे सूक्ष्म शरीर का विकास

१४ से २१ वर्ष तक का समय तर्क, विचार एवं बुद्धि विवेक के विकास का होता है। यौन परिपक्वता के साथ ही यदि बुद्धि का अपेक्षित विकास होता है तो समझिए आयु के अनुसार विकास का क्रम ठीक चल रहा है। कुछ व्यक्तियों में इन अवधियों से पहले ही सम्बन्धित पक्षों का विकास देखा जाता है, वह उनकी विशेषता मानी जा सकती है।

विकास का सप्तवर्षीय काल मानवता के विकास के साथ–साथ घटता भी जा रहा है। भाव शरीर का जो समय ७ से १४ वर्ष का कहा गया है, आज के समय में उसमें कमी देखी जाती है। अनेक किशोर–किशोरियों का यौन सम्बन्धी विकास १० से १२ वर्ष की आयु में ही हो जाता है और तर्क, विचार एवं बुद्धि का विकास बहुतों में १६ या १८ वर्ष की आयु में ही होता देखा जाता है।

हम देख रहे हैं कि अब तक व्यस्क मताधिकार की आयु २१ वर्ष रही है। यही तीसरे सूक्ष्म शरीर के विकास की

अन्तिम अवधि है। वर्तमान समय में यह विकास पहले भी होने लगा है और तर्क, विचार आदि की प्रौढ़ता कम आयु में ही उपलब्ध होने के कारण मताधिकार की न्यूनतम आयु १८ वर्ष हो गई है।

ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनका विकास भौतिकभाव और सूक्ष्म शरीरों तक ही होकर रह जाता है और वे उससे आगे बढ़ ही नहीं पाते। इसीलिए उनका मनन शरीर अविकसित ही रह जाता है। वे अपने जीवन की पूर्णता उक्त ३ शरीरों के विकास में ही मान लेते हैं।

चौथे मानस शरीर का विकास

मानस शरीर के विकास की सामान्य अवधि २१ से २८ वर्ष है। परन्तु ऐसे कितने हैं जो इसके विकास का लाभ उठा पाते हैं। अधिकांश मनुष्यों का यह शरीर अविकसित ही पड़ा रहता है। वे यह नहीं जानते कि इसमें अद्‌भुत सम्भावनायें भरी हुई हैं। इसका विकास होने पर मनुष्य अनेकों अतीन्द्रिय क्रियायें करने में समर्थ होता है। वह परकाया प्रवेश कर सकता है, बिना काया ही घूम फिर सकता है, बिना कहे दूसरों के मन के भाव जान सकता है, हजारों–लाखों मील पर घटित घटनाओं का पूरा हाल ज्यों का त्यों कह सकता है। यहाँ तक कि टेलीपैथी, हिप्नोटिज्म, मैस्मेरेज्म आदि में तो सिद्ध होता ही है अन्य अनेक ऐन्द्रजालिक कार्यो की सामर्थ्य भी प्राप्त होती है।

परन्तु आज के युग में जो इतने समर्थ नहीं, वे भी अपना समर्थ होना सिद्ध करते हैं। ढिंढोरा पीटते हें कि हमें

वह सभी कुछ प्राप्त है जो प्राचीन सिद्धपुरूषों के पास था। लोगों को विश्वास में लाने के लिए कुछ हाथ की सफाई व छोटे–मोटे चमत्कार दिखाते रहते हैं। यह ऐसा समय है जिसमें स्वार्थपरता बढ़ी हुई है। प्राचीनकाल में परार्थ की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। इस चौथे शरीर में इस छल का भी आरम्भ हो सकता है। यद्यपि इस शरीर के विकास से मनुष्य अद्भुत सिद्धियों का स्वामी हो सकता है और यदि वह उनका उपयोग परार्थ के उद्देश्य से करे तो बहुत बड़ा लोकोपकार कर सकता है। किन्तु परार्थरहित रूप से करे तो हानि भी पहुँचा सकता है।

अनेक भौतिकवादी सिद्धों एवं तान्त्रिकों ने कुछ ऐसे कार्य भी किए जिनसे उनकी निन्दा भी हुई। ऐसे कुछ व्यक्ति क्रुद्ध व्यक्तियों द्वारा प्रतिशोधात्मक रूप से मारे भी गए, क्योंकि उन्होंने अपने चौथे शरीर के विकास हेतु अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

परन्तु वह सब उन्होंने किया, तो मिथ्याचारी हो गए। यदि वे मिथ्याचार का आश्रय न लेते तो संसार में सुकीर्ति के अधिकारी बने रहते और अपने सदाचार के बल पर इस शरीर का विकास होने पर स्वतः ही बहुत कुछ प्राप्त हो सकता था।

और ऐसे सिद्ध पुरूष भी हुए हैं जिन्होंने सदैव परोपकार ही किया। उन्होंने जब, जो चाहा, वह स्वतः ही हो गया। उसके लिए उन्हें कुछ प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं हुई। योग की अनेक सिद्धियां चौथे शरीर के ही चमत्कार है।

कुण्डलिनी जागरण एवं चक्रवेधन आदि कार्य भी इसी शरीर के द्वारा सुचारू रूप से हो सकते हैं।

परन्तु आधुनिक शरीर शास्त्री इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि शरीर में कुण्डलिनी नाम की कोई वस्तु है भी। उनका यह स्वीकार न करना भी कोई अयथार्थ नहीं है, क्योंकि किसी भी सर्जन को मानव शरीर की चीड़ फाड़ करने पर कभी न कोई वैसी कुण्डलिनी मिली और न वैसे षटचक्र ही। फिर मिलते भी कहाँ से, क्योंकि कुण्डलिनी व चक्र भौतिक शरीर की वस्तु है ही नही। जिस शरीर में वे हैं, उसकी चीड़फाड़ करने में संसार का कोई भी सर्जन समर्थ नहीं है।

चौथा शरीर, मानसिक शरीर है। सभी प्रकार की कल्पनायें मन से होती हैं और प्रबुद्ध मनुष्य ही उस कल्पना को कर सकता है, जो पशु नहीं कर सकता। आप देखते हैं कि पशु के मुख पर चिन्ता प्रकट नहीं होगी, क्योंकि उसे भविष्य की कोई चिन्ता नहीं होती और चिन्ता की उत्पत्ति भविष्य के बोध का ही परिणाम है।

मनुष्य रोगी है तो वह उसके उपाय की चिन्ता करेगा। अर्थाभाव होगा तो भी चिन्ता स्वाभाविक है। स्त्री–सन्तानादि के विषय में भी चिन्ता हो सकती है। किन्तु पशु को ऐसी कोई चिन्ता ही नहीं होगी और यही कारण है उसमें कल्पना शक्ति का भी अभाव होता है।

कुछ लोग इसका अर्थ लगा सकते हैं कि मानस

शरीर का काम कल्पना होगा? परन्तु नहीं, कल्पना तो उसका एक छोटा अंग है और भी बहुत से कार्य है उसके। यदि वह विकसित हो तो कुण्डलिनी जाग 'उठती है ओर कुण्डलिनी जागती है तो अनेक अद्‌भुत संभावनाओं को सजग कर देती है। उसके फलस्वरूप मनुष्य के व्यक्तित्व में पूर्णरूप से परिवर्तन हो जाता है।

चौथा शरीर और कुण्डलिनी जागरण

कुण्डलिनी जागरण का कार्य इस चौथे शरीर में संभव है। जब वह जागती है, तभी से मानव व्यक्तित्व में अन्तर आना आरम्भ हो जाता है। बहुत बार वह अन्तर चमत्कारी का रूप धारण कर लेता है। परन्तु यह चमत्कार तभी कहे जाते हैं जब तक सभी मनुष्यों का चौथा शरीर विकसित नहीं होता, क्योंकि सभी का मानस शरीर विकसित हो जाए जिसे आज चमत्कार कहते हैं, वह एक साधारण बात हो जाएगी।

आज भी कोई सिद्ध कहा जाने वाला पुरूष मिट्‌टी का रूपया या रूपये को मिट्‌टी बना दे सामान्य दृष्टि से यह एक चमत्कार कहलाएगा, जबकि इस सिद्धि से कोई बड़ा सिद्ध उससे प्रभावित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे भी बड़ा चमत्कार दिखाने में समर्थ है। इस प्रकार चौथे शरीर के विकास की जो बात हमने कही वह बहुत कम मनुष्यों में ही सम्भव है। किन्तु जो व्यक्ति इसका विकास कर लेते हैं, वे अनेक अद्‌भुत कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं।

पाँचवें आत्म शरीर का विकास

आत्म शरीर को अध्यात्म शरीर भी कहते हैं। इसका विकासकाल २८ वर्ष के पश्चात् आरम्भ और ३५ वर्ष की आयु तक पूर्ण होता है। कुछ व्यक्तियों में इस अवधि की सीमा कम भी हो सकती है। जिनके तीसरे और चौथे शरीर का विकास शीघ्र हो जाता है। उनका आत्म शरीर भी शीघ्र विकसित हो सकता है।

परन्तु जो व्यक्ति प्रथम व द्वितीय शरीर से आगे ही नहीं बढ़ पाते उनके पाँचवें शरीर का विकास भी प्रायः असम्भव ही है। जब यात्रा मार्ग में ही रूक गई तो आगे कैसे बढ़ा जाए? बीच की सीढ़ियाँ टूट गई तो ऊपर पहुँचना कैसे सम्भव हो?

यदि पांचवें शरीर का विकास हो तो आत्मज्ञान सहज हो सकता है। शरीर में आत्मा की भ्रान्ति दूर हो सकती है और ऐसा होने पर परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है। जिसने आत्मा को पा लिया, उसके लिए परमात्मा का पाना क्या कठिन होगा? मोक्ष प्राप्ति के लिए इस शरीर का विकास अपेक्षित है।

छठे ब्रह्म शरीर का विकास

इसके विकास की अवधि ३५ से ४२ वर्ष मानी जाती है। जब मनुष्य पाँचवें शरीर की प्राप्ति में सफल हो जाता है, तब वह इसके विकास में समर्थ हो सकता है। वस्तुतः इसका विकास होने पर ही ब्रह्म अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

पाँचवें शरीर में आत्मा के विकास की नींव दृढ़ हुई और छठे में 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना का विकास हुआ। इसमें यह मान्यता बनी कि अन्य कोई नहीं, मैं ही ब्रह्म हूँ। यहीं आत्मा–परमात्मा के ऐक्य की सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार छठे शरीर के विकसित होने पर मोक्ष से भी परब्रह्म की प्राप्ति का सरल साधन उपलब्ध होता है।

सातवें निर्वाण शरीर का विकास

जब छठा शरीर भी विकसित हो जाए, तब सातवें शरीर के विकास की अवधि आरम्भ होती है। यह अवधि ३५ वर्ष से ४२ वर्ष तक की मानी जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक ७ वर्ष में क्रमशः एक–एक शरीर का विकास हो सकता है।

यह सातवाँ शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। वस्तुतः कहने को तो यह शरीर ही है, किन्तु अशरीर–शरीर एकदम बाडीलेस। यहाँ 'अह' और 'ब्रह्म' दोनों ही नहीं रहते। यदि रहता है तो केवल शून्य। बस यहीं तक तो अन्तिम छलांग भरी जाती है। यही निर्वाण है ओर इन सातों शरीरों का विकास कोई सामान्य घटना नहीं। बहुत कम मनुष्य ही इन सबकों कर पाते हैं ओर जो कर पाते हैं, वे अपने जीवन में सभी कुछ प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिए अप्राप्य कुछ भी नहीं होता।

उक्त सातवें शरीर के विकास अवधि ४६ वर्ष है। प्रत्येक शरीर जीवन के प्रत्येक सोपान से सम्बन्धित है। सातों सोपान का यह जीवन सुनिश्चित समय पर चढ़ता रहे तो तभी कुछ सरल रहता है। इस समय ये अपेक्षानुसार थोड़ा हेर–फेर

भी हो सकता है। किन्तु अधिक हेर–फेर से सभी व्यवस्था गड़बड़ हो जाएगी।

मोटे तौर पर ७ शरीरों के क्रम को इस प्रकार समझिए कि यदि किसी बालक का शारीरिक विकास ७ वर्ष की आयु तक नहीं होता तो फिर नहीं हो सकता। क्योंकि बालक का विकास जहाँ रूका, वहीं रूक जाता है।

इसी प्रकार १४ वर्ष की आयु तक यदि यौनांगों का विकास न हो तो फिर उसका विकास भी नहीं हो सकता। वही तथ्य बुद्धि के विषय में है, उसका विकास भी २१ वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिए, अन्यथा उसके विकास की सम्भावनायें प्रायः समाप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार २८ वर्ष की आयु तक मानसिक विकास भी आवश्यक है।

यह चारों प्रकार के विकास २५ से ३० वर्ष की आयु तक अवश्य हो जाने चाहिए, क्योंकि उसके बाद वैसा कोई अवसर नहीं रहता। सात विकासों में यह ४ विकास ही नींव का काम देते हैं। यदि नींव मजबूत है तो कुछ कमजोर मकान भी टिका रह सकता है, किन्तु नींव के कमजोर रहने की स्थिति में मजबूत से मजबूत मकान भी ढह जाता है। यदि यह ४ शरीर विकसित हो गए तो समझ लीजिए कि आगे की प्रक्रिया कठिन नहीं रह गई। फिर तो सभी कुछ सरल है और थोड़े से प्रयत्न से ही विकसित हो सकते हैं, क्योंकि नींव रख गई तो मकान भी खड़ा हो सकता है।

इन चार शरीरों के विकास तक जीवन की आधी

समस्या पूर्ण हो जाती हैं। अब शेष ३ शरीरों के विकास से आध्यात्मिक महत्व की पूर्ति होती है, जो कि प्रत्येक मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। गृहस्थ जीवन में रहते ही सातों शरीर का विकास पूर्ण कर लिया जाना ही श्रेयस्कर है।

गृहस्थ जीवन पर विकसित शरीरों का प्रभाव

इन विकसित शरीरों का गृहस्थ जीवन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। जिन प्रथम शरीरों की चर्चा की गई है, उनका विकास हुए बिना गृहस्थी का भी सुचारू रूप से चल पाना प्रायः कठिन ही होता है।

उक्त ४ शरीर का विकसित होना इसलिए भी आवश्यक है कि यदि उनका विकास किए बिना विवाह कर लिया जाए तो उससे जीवन में असफलता ही हाथ लगेगी।

किन्तु यदि किसी के प्रथम और दूसरे शरीर ही विकास को प्राप्त हुए हों, तीसरें और चौथे न हुए हों तो आरम्भ में दाम्पत्य जीवन में किसी प्रकार के व्यवधान का आभास नहीं होगा, क्योंकि आरम्भ में पति–पत्नी दोनों में कामुकता के अधि िक अंश विद्यमान रह सकते हैं। इस कारण पारस्परिक आकर्षण भी अधिक ही रहता है। किन्तु बाद में तीसरे शरीर के अविकसित रहने के फलस्वरूप जिस विवेक बुद्धि का अभाव रहता है, वही कलह का कारण बन जाती है।

और किसी दम्पत्ति ने अपने तीनों शरीर विकसित कर लिए हों तो उनमें कुछ अधिक पट सकती है, किन्तु जब तक चौथा शरीर विकसित नहीं होता तब तक उन्हें वैसा

सहज आनन्द नहीं आ सकता जैसा चौथा शरीर के विकसित होने पर आ सकता है। यद्यपि ऐसे दम्पत्ति बहुत ही कम होंगे जो इन ४ शरीरों को भी विकसित करने में सफल हो सके। बहुत से इनके सम्बन्ध में जानते तक नहीं तो उसके लिए प्रयत्न ही क्या करेंगे?

हमारे आचार्यों ने इसीलिए बाल विवाह का निषेध किया था। कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वाचार्य तो वाल–विवाह को ही उचित मानते थे, किन्तु उनका यह कहना सही नहीं है कि वस्तुतः यौवनकाल में ऐसी आवश्यकता का अनुभव होने पर तत्कालीन विद्वानों को वैसी व्यवस्था देने को विवश होना पड़ा हो तो उसे कोई नियम नहीं मान सकते।

वस्तुतः उक्त ४ शरीरों के विकास तक का निर्वाह बहुत उपयोगी है, जिसने इस में सफलता प्राप्त कर ली वह जीवन में सफल हो गया, क्योंकि यहाँ तक सीमित लौकिक व्यवहारों की पूर्ति हो जाती है और कुण्डलिनी का भी जागरण हो चुका होता है। अब तो उसकी छलांग शेष रह जाती है। आत्मा और परमात्मा पर और अन्तिम छलांग का लक्ष्य है निर्वाण, वह निर्वाण जिसे शून्य अथवा परमपद कहते हैं।

और ४ शरीर को विकसित करने वाले के लिए शेष ३ शरीरों का विकास कुछ कठिन नहीं होता। यदि मार्ग की बाधायें दूर कर दी जाँय तो लक्ष्य की प्राप्ति बहुत सरल हो जाती है। उस स्थिति में जो भी साधन किए जाते हैं, वे प्रायः निष्फल कभी नहीं होते।

४ शरीरों के पश्चात् जो मार्ग आता है, वह आत्मनिर्भरता का है। उससे पहिले जो पगडडियाँ मिली थीं उनमें प्रयत्न पर निर्भर करता था यदि प्रयत्न कहीं मार्ग में ही छूट गया तो कुछ किया था, वह भी गया। इसलिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता थी उस मार्ग में। उसे पारकर लिया तो समझ लो कि सभी कुछ पार कर लिया, जो कठिन नहीं रूक सका तो सरल ही क्या रूकेगा?

अविकसित शरीरों के कुफल

यदि आरम्भिक शरीर ही अविकसित रह जाते हैं तो बाद में शरीरों को विकास के अवसर कैसे मिल सकेंगे? प्रथम शरीर का अविकास रोग दुर्बलता का सूचक तो है ही, साथ ही यह भी सूचना मिलती है कि ऐसे मनुष्य के लिए बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

सेक्स का अविकास दूसरे शरीर के अविकसित होने से जुड़ा है। ऐसे व्यक्तियों का जीवन अन्धकारमय हो सकता है। अनेक गृह–कलहों के मूल कारण यही है। बाद में इसी के फलस्वरूप अधिक बुरे परिणाम देखे जाते हैं क्योंकि तीसरी शरीर के अविकसित रहने से बुद्धि की कमी रह सकती है।

चौथे शरीर का अविकास अनेक प्रकार के भय, आशंका, गुरूजनों के प्रति अश्रद्धा, देवताओं के प्रति असम्मान, परमात्मा और आत्मा के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देता है किन्तु आध्यात्मिक विकास की संभावनायें भी इसी से हो सकती हैं यदि इसका विकास होने लगे।

चौथे से पहले के सभी शरीर प्रायः भौतिक मार्ग अभौतिक सभी प्रकार की विद्याओं के लिए मार्ग बनाते हैं। यदि यह मार्ग ठीक प्रकार से नहीं बन पाता तो चौथे शरीर से उपलब्ध होने पर सभी सम्भावनायें विलीन हो जाती है और यह मानसिक अशान्ति उत्पन्न कर सकती है। संसार की कोई भी शक्ति हो, वह अपने समय का सदुपयोग तो चाहेगी, जिसकी पूर्ति न होने पर सम्भव है कि वह विपरीत फल प्रदर्शित करने लगे।

चौथे शरीर का विकास मानसिक सम्बन्धों का विकास के अभाव से भय की उत्पत्ति हो सकती है। बहुतों को क्षोभ रहता है जिससे द्वेष ईर्ष्या, दम्भ आदि से अशांति की स्थिति रहती है, क्योंकि मानसिक विकास उस स्थिति पर नियन्त्रण रखने में समर्थ होता है।

और चौथे शरीर का विकास होने पर शिष्य गुरू से भी बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। वह शक्तिपात द्वारा अपने को सफल बना सकता है, किन्तु तभी जबकि गुरू भी शक्तिपात करने के योग्य हो। बहुत से उपयुक्त न होते हुए भी उपयुक्त होने का दम्भ भरते हैं। वे बहुत सी बातों का विश्वास दिलाते हुए भी उन्हें करने में समर्थ नहीं होते।

अनेक्र गुरूओं ने दुकान चला रखी हैं। बडी भीड भाड रहती है उनके पास। आश्रम के नाम पर खड़े हैं राजभवन और धन के नाम पर भरे रहते हैं कोषागार, ऐसे गुरूओं से भी बचना आवश्यक है। कोई कहे कि मेरी कृपा से

यह हो जाएगा तो तुम्हें मेरी कृपा से यह सब मिला है यह सब मिथ्या है, व्यर्थ ही बहकाने वाला, निरर्थक दावा, इन सबमें कोई तथ्य नहीं है।

जानों, समझों और करो

किसी भी उपलब्धि की आकांक्षा है तो सर्वप्रथम उसे जानना आवश्यक है। जान लेने पर भी क्रियारूप से परिणित करना कठिन होता है इसलिए करने से पहले समझना अपेक्षित है।

ज्ञान शाश्वत है, योग भी शाश्वत है। शाश्वत का अर्थ है, सदा से चला आने वाला। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता का ज्ञान दिया तो उन्होंने कहा कि यह ज्ञान नया नहीं है। मैने यह प्राचीनकाल में सूर्य को दिया था। सूर्य से ही औरों ने प्राप्त किया था। जिस–जिसने इसे प्राप्त किया, उसने चरितार्थ करने का भी प्रयत्न किया। किन्तु ज्ञान का चरितार्थ होना भी तभी सम्भव हुआ जब समझ कर उसे क्रियानवित किया गया।

परन्तु अनेक व्यक्ति जो गुरू बनने का दाबा करते हैं, सुने सुनाए ज्ञान को कहते हैं कि हम जानते हैं। आओ हमारे पास और ज्ञान लो। अब प्रश्न यह है कि वह उसके विषय में कितना जानते हैं? क्या सुन लेने भर से पारंगत हो गए? नहीं, सुन लेने भर से कोई पारंगत नहीं हो जाता। इसलिए किसी के बहकावें में न आओ, वरन् परखो कि जो हमें जो कुछ देना चाहता है वह स्वयं उसके पास है भी या नहीं? यदि नहीं है तो हमें क्या देगा? हाँ, उसके पास है तो चूको मत, अवश्य ले

लो, जो उसे देना चाहता है।

ज्ञान, ज्ञान है। उसे किसी से भी ले सकते हो। इसमें वर्ण व्यवस्था आयु, अनुभव आदि कुछ भी बाधक नहीं है। कहते हैं कि रत्न कीचड़ में पड़ा हो तो उठा लेना चाहिए। यह तो ज्ञान की बात है। यदि उपेक्षा की गई तो सम्भव है फिर कभी हाथ न लगे।

सभी ज्ञान अभ्यास से साध्य होते हैं, क्रियाओं में भी सफलता के लिए अभ्यास करना होता है। इसलिए ज्ञान हो चाहे योगक्रिया अभ्यास करने से सिद्ध होता है। इसलिए किसी से भी ज्ञान को जानने के बाद समझों और उसका बार–बार अध्ययन एवं परीक्षण करना चाहिए।

शरीर की उत्तरोत्तर क्रियाशीलता

बात ७ शरीरों की थी। बीच में प्रसंगवश कुछ अन्य बातें भी आ गई, किन्तु अब पुनः' उसी प्रसंग पर आना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि जब तक इस विषय को ठीक प्रकार से न जान लिया जाएगा, तब तक सभी कुछ अध् ूरा ही रहेगा।

यह आवश्यक है कि अपनी–अपनी अवधि में सभी शरीर विकास को प्राप्त हो। यदि ऐसा न हुआ तो बहुत कुछ प्राप्त करने योग्य हैं, उस से वंचित रह जाना होगा।

७ शरीरों को भी २ भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम विभाग में ४ शरीर और दूसरे में शेष ३। एक के पश्चात्

एक करके इनकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

प्रथम ४ शरीर में पारस्परिक सामंजस्य बहुत आवश्यक है। यदि इसमें सामंजस्य बन गया तो फिर अगले तीनों में भी वह सहज होगा। यदि आरम्भिक शरीरों में ही असामंजस्य अथवा अमैत्री रही तो मनुष्य को बहुत कठिनाई उठानी पड सकती है।

समस्त शरीरों के प्रति सजग रहना चाहिए। मान लीजिए आप १४ से २१ वर्ष की आयु में चल रहे हैं तो यह समझ आपके सूक्ष्म शरीर के विकास की है। इस आयु में आपका कर्तव्य है कि विगत दोनों शरीरों के प्रति भी उपेक्षाभाव न रखें क्योंकि मनुष्य जिस शरीर के विकास काल में चल रहा होता है, उसी के प्रति अधिक सजग रहता है।

हमें सर्वप्रथम अपने स्थूल शरीर के विषय में ध्यान देना होगा, कहीं कोई रोग तो नहीं घेर रहा है, कहीं कोई चोट तो नहीं लगी है, कहीं शारीरिक स्थिति से अधिक परिश्रम तो नहीं करना होता है, इत्यादि बातें यद्यपि भौतिक हैं तो भी उपेक्षा के योग्य नहीं हैं।

इस शरीर के द्वारा कोई भी कार्य लिया जाए, उसके प्रति सचेत रहो। कहीं चल रहे हो तो ध्यान रखो कि तुम्हारा चलना निरर्थक नहीं है। यदि कुछ कर रहे हो तो वह ऐसे होना चाहिए जिससे किसी प्रकार की हानि न हो। यदि कुछ पढ़ रहे हो तो ऐसा हो जो तुम्हे विवेक प्रदान कर सके।

विषयावरण और मूर्च्छा

जब मनुष्य विभिन्न विषय में मग्न रहता है तब उसे अपनत्व का भी चेत नहीं रहता। आपने देखा होगा किसी आवरण चढी वस्तु को, जिसका आवरण ही दिखाई देता है, वह वस्तु नहीं। इसी प्रकार मनुष्य जब भूला रहता है विषय में तब उसका आवरण विषयों का आवरण ही लिपटा रहता है और इस कारण वह स्वयं मूर्छित रहता है।

स्वयं का मूर्च्छित रहना ही तो एक बहुत बडी बाधा है, अपने को यर्थार्थरूप में जानने में। कभी एकान्त स्थान में जा बैठो और सोचो अपने विषय में कि मैं कौन हूँ? यदि ऐसा करोगे तो उस समय विषयों की मूर्च्छा हटती हुई प्रतीत होगी।

उसी स्थिति में आप अपने हाथ को ऊपर की ओर उठाइए। हाथ ऊपर को उठेगा, किन्तु आपको अनुभव होने लगेगा कि हाथ को उठाने वाला मैं नहीं हूँ, कोई अन्य ही है। तब वह अन्य कौन हो सकता है? असम्भव है यह तथ्य पूर्णरूप से आपकी समझ में न आ सके।

परन्तु आपके हाथ को उठाने वाला शरीर नहीं होता क्योंकि स्थूल में गति नहीं होती। हाथ स्थूल शरीर का एक अंग होते हुए भी स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है जब आपकी समझ में यह तथ्य आ जाता है, तभी आप जान पाते हैं कि हाथ को उठाने वाला हो सकता है दूसरा शरीर, जिसे भाव शरीर कहा गया है।

और यह ज्ञान बहुत आवश्यक है। हमें सभी शरीरों के विषय में समन्वयात्मक दृष्टि रखनी होगी। यदि हम स्थूल शरीर को जानते हैं तो हमें भाव शरीर को भी जानना चाहिए। परन्तु जानें कैसे, मूर्च्छित जो है? हमें प्रथम शरीर का ही ज्ञान नहीं तो दूसरे या तीसरे शरीर का ज्ञान कैसे होगा?

इसलिए आवश्यक यह है कि हम अपनी मूर्च्छा का त्याग करें और शरीर की प्रत्येक क्रिया के प्रति जागरूक रहें। जब प्रथम शरीर के विषय में जान लें, तब दूसरे के विषय में भी अनभिज्ञ न रहें। प्रथम शरीर के प्रति सचेत रहने पर दूसरे शरीर के प्रति भी बोध आरम्भ हो जाएगा और एक–दूसरे के सामंजस्य की कड़ी भी यहीं से आरम्भ होगी।

अनुभव और अभिव्यक्ति

प्रथम शरीर की प्रत्येक क्रिया का अनुभव करो। यदि उसमें कोई ऐसी अभिव्यक्ति होती है जो शरीर की परिधि में नहीं आती तो यह समझना होगा कि वह किसी अन्य शरीर की क्रिया हो सकती है। यह क्रिया तो हो सकती है। मान लो कि आपको क्रोध आ रहा है तो अवश्य ही वह उस शरीर कि क्रिया नहीं, वरन् दूसरे शरीर की है क्योंकि क्रोध की उत्पत्ति भाव शरीर की वस्तु है, उसकी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर में हो सकती है।

यदि किसी को मारने की इच्छा उत्पन्न हो और वह प्रथम शरीर तक ही सीमित रहे उस इच्छा का दमन किया जा सकता है, क्योंकि वह इच्छा वस्तुतः भाव शरीर की क्रिया है

जिसका स्थूल शरीर में तो दमन किया जा सकता है किन्तु भाव शरीर में नहीं। इसे इस प्रकार समझिए कि आप अभिव्यक्ति का दमन सरलता से कर सकते हैं, किन्तु क्रिया का दमन बहुत कठिन कार्य होता है।

ध्यान रहे कि किसी भी वस्तु की मूलस्रोत के तल पर सरलता से नहीं रोका जा सकता, जबकि अभिव्यक्ति के तल पर उसका रोका जाना बहुत सरल होता है। परन्तु बहुत बार क्रोध को रोक न करने का एक कारण यह भी होता है कि हमारा विवेक वासना के आवरण में दबा रहता है और हम यह जान भी नहीं पाते कि हमारे भीतर क्रोध की अभिव्यक्ति आरम्भ हो रही है। उसका ज्ञान तभी होता है जब वह गतिवान होकर उभर आता है और बहुत बार तो जब प्रकट हो जाता है, तभी उसकी प्रवृत्ति का अनुभव होता है और उस स्थिति में हम विवश रह जाते हैं उसे रोकने में।

यह तथ्य केवल क्रोध तक ही सीमित नहीं है। घृणा, ईर्ष्या, भय तथा प्रेम आदि के विषय में भी यथावत् है। आप किसी से घृणा, ईर्ष्या या प्रेम करने लगे तो वह भी प्रथम शरीर का कार्य नहीं, चाहे प्रथम शरीर उसी अभिव्यक्तिवश वैसा करने के लिए उन्मुख ही क्यों न हो जाए। परन्तु द्वितीय शरीर के द्वारा वैसा किया जाता है तो वह उसकी क्रियाशीलता के क्षेत्र में आने के कारण व्यक्त हो सकेगा। उस स्थिति में उसका अनुभव पहले से ही होने लगेगा।

क्या आप जानते हैं कि मनुष्य भयभीत होता है तब

उसके साथ शरीर में सिकुड़न पड़ने लगती है। परन्तु भय का प्रभाव स्थूल शरीर पर नहीं पड़ता, वह जैसा था वैसा ही रहता है, किन्तु दूसरे शरीर में उत्पन्न संकोच स्थूलशरीर को भारी बना देता है, लगता है कि उस पर कुछ दबाब पड रहा है। मनुष्य चलता, बैठता या लेटता है, तब भी उसे लगता है कि वह किसी प्रकार दबा जा रहा है। यहाँ तक कि बोलने में भी कुछ परेशानी का अनुभव होगा उसे।

परन्तु भाव शरीर भय में ही सिकुड़ता है, प्रेम में नहीं। प्रेम से तो शरीर का फैलाव बढ़ता है, क्योंकि लगता है कि कहीं किसी प्रकार का बन्धन, दबाब या मोक्ष की आशंका ही नहीं है। उसमें स्वच्छन्दता और उन्मुक्तता इतनी रहती है कि लगता है आंतरिक भाग खिल उठा है न उस में भार का अनुभव तो नाम़ को नहीं होता। न कहीं जकड़न होती है न दबाब, रहता है तो उल्लास और हर्ष की अनुभूति।

और जब ऐसा अनुभव होने लगे, तब समझो कि हमें भाव शरीर का बोध होने लगा है। यदि ध्यान करने लगो तो उसमें भी शरीर का हल्कापन ही अनुभव में आएगा, क्योंकि ध्यान जिसका भी किया जाए उसके प्रति तो होगा ही, इससे स्पष्ट है कि यह सब बोध जो भाव शरीर के सम्बन्ध से हैं, प्रथम शरीर में ही अभिव्यक्त होने लगेंगे। इस प्रकार स्थूल शरीर और भाव शरीर (ईथरिक बाडी) का सामंजस्य बनने लगेगा।

भाव शरीर और सूक्ष्म शरीर का सामंजस्य

हमने जिस तीसरे शरीर की चर्चा की है, वह भावशरीर

की अपेक्षा सूक्ष्म है। इस तक पहुँचने के लिए अधिक सजगता की आवश्यकता होगी। यदि हम प्रथम शरीर पर ही मूर्च्छित हैं तो दूसरे शरीर तक पहुँचने की बात ही अस्वाभाविक रहेगी। तब तीसरे शरीर पर पहुँचना तो बहुत ही दूर की बात है।

ध्यान रहे कि जब तक दूसरे शरीर पर पहुँचने में सफलता मिले, तब तक तीसरे शरीर की अभिव्यक्तियों को पकड़ना भी नहीं बनेगा। दूसरा पर्याप्त हो, मार्ग बहुत शेष हो तो जब तक बीच का मार्ग पूरा न होगा, लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी। यदि प्रथम शरीर के प्रति मूर्च्छित नहीं है तो दूसरे शरीर की क्रियाओं का अनुभव सरलता से होने लगेगा और यदि दूसरे शरीर के प्रति सचेत हैं तो कोई कारण नहीं कि तीसरे शरीर के विषय में अभिव्यक्तियों का आरम्भ न हो जाए।

जब हम दूसरे शरीर को पकडने में अभ्यस्त हो जायेंगे, तब हमें तीसरे शरीर के भाव पकडने में भी सरलता हो सकती है। मान लीजिए कहीं संगीत का आयोजन है जिसमें अनेक बाद्यों का प्रयोग किया गया है और आप संगीत के विषय में अधिक जानकार नहीं तो मोटे तौर पर आप अनेक वाद्यों के स्वरों में ही उन्हीं वाद्यों को पहचान सकेंगे, जिनकी ध्वनि से अधिक मन्द स्वर वाले बाद्य होंगे, वे कितने भी हृदयंकारी क्यों न हों, आपकी समझ में नहीं आ सकेंगे।

किन्तु संगीत के प्रति ज्यों–ज्यों आपकी परख बढ़ती जाएगी, त्यों–त्यों आपको उक्त वाद्यों में आनन्द आने लगेगा, फिर उनसे भी अधिक मन्द बाद्यों में आनन्द आएगा। जब

वाद्यों के प्रति समझ जाग्रत हो जाएगी तब संगीत में विद्यमान आनन्द का अधिकांश भाग उपलब्ध हो सकेगा।

इसी प्रकार समस्त शरीरों का पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेत रहना होगा। यदि भाव शरीर के भावों के प्रति सजग रहकर उनकी अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों का पीछा करने लगोगे तो तुम्हारी पहुँच सूक्ष्म शरीर तक स्वतः होने लगेगी।

भाव तरंग और क्रियाशीलता

यह एक वास्तविकता है कि समस्त भाव तरङ्ग रूप में है और वे तरङ्गित करते रहते हैं क्रियाशीलता को। वस्तुतः प्रेम और घृणा या मित्रता की तरङ्गों में अन्तर कुछ नहीं है, केवल उनके संघात के संगठन का अन्तर है, इसी कारण बहुत बार शत्रुता मित्रता में या मित्रता शत्रुता में बदल जाती है। बहुत बार प्रेम घृणा के रुप में या घृणा प्रेम के रूप में बदलते देखे गए हैं। यदि तरङ्गों में अन्तर होता तो ऐसा कभी नहीं हो सकता था।

है न मित्रता की बात कि आज हम जिससे मित्रता करते हैं, कल उसी से शत्रुता करने लगते हैं। कल का शत्रु आज हमारा भी मित्र बन जाता है। परन्तु यह सब तरङ्गों के संघात बदलने पर ही होता है। क्योंकि हम स्पष्ट देखते हैं कि एक ही व्यक्ति से एक ही समय में प्रेम और घृणा दोनों नहीं किए जा सकते।

और यह सब कहने का मुख्य उद्‌देश्य यह है कि

मति में उत्पन्न होने वाले सभी द्वन्दों की जडें इस सूक्ष्म शरीर में ही हैं। घृणा, प्रेम, प्रतिरोध मेल सभी कुछ यहाँ से उत्पन्न हुआ है। अभी आप एक व्यक्ति को गालियां देते और कुछ देर बाद उसको श्रद्धेय मानते हैं। आपकी इस स्थिति को देखने वाले कहें अवश्य ही आप सिरफिरे हैं या किसी कारणवश कोई अभिनय कर रहे हैं।

किन्तु वास्तविकता यह है कि न आप सिरफिरे हैं और न किसी प्रकार का अभिनय कर रहे हैं। वरन् मन तो द्वन्द्वों का घर हैं न। सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न भावनात्मक द्वन्द्व मन को बार–बार कचोटता है। वह उसे स्थिर नहीं रहने देता। यदि रहना चाहे तो भी नहीं। मन में शत्रुता के भाव हैं तो मित्रता के भी हैं। तिरस्कार भी विद्यमान है और सम्मान भी। अभी शत्रुता है तो उसी से दबी हुई मित्रता भी अपना अवसर देख रही है। अभी तिरस्कार का भाव व्यक्त है तो कुछ देर में ही सम्मान का भाव व्यक्त हो सकता है, क्योंकि वह ताक लगाए बैठा है कि कब तिरस्कार अपने स्थान से हटे और मैं उस पर कब्ज़ा करूँ।

यही कारण है कि आप कभी जिसे गालियाँ दे रहे थे, उसकी प्रशंसा करने लगे हैं यह आपका कार्य नहीं, उस द्वन्द्व का कार्य है, जिसे द्वन्द्व ने अपने वश में कर रखा है और यह तभी तक है जब दूसरे शरीर की क्रियाओं के विषय में अचेत पड़े हो और तीसरे शरीर तक तो तुम्हारी पहुंच ही नहीं हो रही, जब दूसरे के प्रति मूर्च्छा और तन्द्रा को त्यागकर तीसरे शरीर

की चेष्टाओं के प्रति सजग होने लगोगे तो बहुत अद्‌भुत स्थिति में जा पहुँचोगे। उस समय तुम्हें शत्रुता मित्रता में या घृणा–प्रेम में कुछ भी अन्तर प्रतीत न होगा।

द्वन्द्वों से मुक्ति

जब घृणा और प्रेम में कुछ भी अन्तर न रहे, किसी के प्रति शत्रुता या मित्रता का भाव न रहे तो इसी को द्वन्द्वों से मुक्ति कहते हैं जो मनुष्य प्रथम शरीर में जागता है वह भावों पर नियन्त्रण करने में भी सफल हो सकता है उसे दूसरे शरीर के जागरण में बड़ी सहायता मिलती है और जो दूसरे शरीर में जागता है वह तीसरे शरीर की विविध क्रियाओं की पूर्ण अभिव्यक्तियों का अनुभव करने लगता है।

किन्तु जब तीसरे शरीर से जागोगे, तब तुम्हारी स्थिति पर्याप्त आगे बढ़ चुकी होगी। उस समय चौथे शरीर की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होने लगेंगी जिसके फलस्वरूप समस्त मानसिक द्वन्द्वों से छुटकारा मिल सकता है। उस स्थिति में यह तथ्य सहज ही समझ में आ जाएगा कि प्रेम और घृणा में कोई भेद नहीं है उनमें से एक को ग्रहण कर लिया तो दूसरा स्वतः ग्रहण हो जाता है। क्योंकि उन्न दोनों में परस्पर ऐक्य है।

और उस समय तुम्हारी स्थिति एक मनोवैज्ञानिक जैसी हो सकती है क्योंकि तब तक समस्त तरंगों का अनुभव हो चुका होता है, इसलिए किसी का भी मुख देखकर यह जानना सरल होगा कि वह किस तरंग से तरंगित हो रहा है।

इस प्रकार का ज्ञान तभी हो सकता है, जब उस प्रकार का अनुभव किया जा सका हो।

यह एक तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य के मुख के समीप उसके तीसरे शरीर से उद्भूत तरंगों का पुंज एक वलय का आकार धारण किये रहते हैं। उसी तरंगपुंज को तेजपुंज भी कहते हैं। मनुष्य जितना अधिक तेजस्वी होगा, उसका मुख मण्डल उतना ही अधिक आभायुक्त होगा।

भगवान, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि के मुख पर इसी प्रकार के विशेष आभामण्डल थे जिससे यह आभास सहज ही हो सकता था कि वे किन–किन तरङ्गों से तरङ्गामित है। परन्तु यह उत्पन्न ज्ञान उन्हीं को हो सकता है। जिन्हें अपने तीसरे शरीर में विद्यमान तरङ्गों का अनुभव हो चुका हो।

आभामण्डलों के चित्र

और विदेशों में तो मनुष्यों के आभामण्डल के चित्र भी लिए जाने लगे हैं। उससे स्पष्ट पता चल जाता है कि उसमें किस–किस रंग की अधिकता है या कौन कौन सा रङ्ग कम मात्रा में है। अथवा बिल्कुल नहीं है। सूर्य–चिकित्सा विशेषज्ञ शरीर में ७ रङ्गों की विद्यमानता स्वीकार करते हैं। उनके मन में ७ रङ्गों की समानता है तो मनुष्य स्वस्थ रहेगा, किन्तु किसी भी रङ्ग की कमी से उससे सम्बन्धित कोई रोग उत्पन्न हो सकता है। उन्हें किसी रोगी की चिकित्सा करनी है तो उसके शरीर में रोग से सम्बन्धित रङ्ग का समावेश करेंगे।

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य शरीर से रङ्गों का अभिन्न सम्बन्ध है। उनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर विशेषरूप से पड़ता है। आप किस रङ्ग को अधिक पसन्द करेंते हैं, इसी से अपने स्वभाव का तालमेल बैठा सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि आप हल्का नीला रङ्ग पसन्द करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि आप शान्त प्रवृत्ति के हैं। इसी प्रकार गहरे रङ्गों को पसन्द करने वाले की प्रवृत्ति उससे भिन्न होगी।

बहुत लोग गहरा लाल रंग पसन्द करते है, इतना लाल जिसे खूनी रंग कह सकते हैं। यह रंग क्रान्तिकारियों को प्रिय रहा है, क्योंकि उस में एक संकल्प है दूसरे को मिटाने का और वह उसके प्रतीक से ही पूर्ण हो सकता है। लाल रङ्ग वस्तुतः हत्या, खून अथवा संहार का प्रतीक है और यह भी माना जाता है कि मनुष्य जिस रङ्ग के वस्त्र पहनता है, वे यदि उसकी प्रवृति के अनुकूल नहीं तो मनुष्य रोगी, चिड़चिड़ा या अशान्त हो सकता है। यदि पूरे कमरे की दीवारो और किबाड़ों को नीले रंग से रंग दिया जाए तो उसमें रहने वाले का रक्तचाप अपेक्षित रक्तचाप से कम रह सकता है, किन्तु बढ़ेगा नहीं। इसी प्रकार कमरे व किवाड़ों का रंग लाल होने की स्थिति में रक्तचाप में कुछ न कुछ वृद्धि की सम्भावना होती है। पीले रङ्ग से और भी हानि हो सकती है।

परन्तु पीला रङ्ग भी प्रकृति के अनुकूल है तो उसमें किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं हो सकतीं है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए रश्मि चिकित्सा में रङ्गों के

प्रयोग की विधि का अविष्कार किया था और रङ्गों का यह चमत्कार मनुष्यों में तीसरे शरीर से सम्बन्धित है। पशुओं में इसकी क्रिया दूसरे शरीर में तथा वृक्षों में प्रथम शरीर में होने लगती है।

चौथे शरीर की उपलब्धियाँ

यह हुई सूक्ष्म शरीर तक की बातें। उससे आगे तो चौथा शरीर है, मानस शरीर या मेंटल बाडी। यह सभी मनुष्यों में क्रियाशील नहीं हो पाता। उससे लाभान्वित थोड़े ही मनुष्य होते हैं। आप कह सकते हैं कि चौथे शरीर के सक्रिय होने से क्या लाभ ? तो सुनिए चौथे शरीर का जागरण सभी लौकिक पारलौकिक सम्भावनाओं को उद्‌भुत कर सकता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति जागकर षट्‌चक्रों को जगा देती या उनका भेदन करती और उन्हें सक्रिय बनाती हुई ऊपर चढ़ती है।

मनुष्य की मनुष्यता तो तीसरे शरीर की सजगता पर ही रूक जाती है। उसके आगे तो देवत्व का आरम्भ हो जाता है। मनुष्य की तीन जातियाँ स्वाभानुसार निश्चित की गई—मनुष्य, देवता और असुर देवता को सुर भी कहते है। असुर का दानव दैत्य या राक्षस भी कहा जाता है। यदि मनुष्य मनुष्यत्व से गिर जाता है तो राक्षस बन जाता है अन्यथा राक्षसों के सिर पर सींग तो होते नहीं।

राक्षसों को मायावी मानते हैं। पुराणों में अनेक राक्षसों का वर्णन हुआ है, वे सव अनेक प्रकार की माया रचने में सिद्धहस्त थे। वे तामसिक सिद्धियां करके उस प्रकार की शक्ति

प्राप्त कर लेते थे। वह सब तन्त्र–मन्त्र का ही प्रभाव था।

किन्तु मनुष्य यदि मनुष्यत्व से ऊँचा उठता है तो देवता बन जाता है। चौथे शरीर के जागरण वाला मनुष्य यदि मृत्यु को प्राप्त हो तो वह अवश्य ही उच्चलोक का अधिकारी होगा। उसके लिए किसी नीचे लोक में जाने या अधोगति प्राप्त करने की आशंका नहीं रहती। मनुष्य योनि से नीचे जाने का भय नहीं रहता।

चौथे शरीर की सक्रियता

चौथे शरीर की सक्रियता निश्चय ही कुछ चमत्कारों का अनुभव कराती है। वह इस जीवन में अनेक प्रकार की भौतिक उपलब्धियों का अवसर देती हैं और मरने पर अशरीर अस्तित्व प्राप्त कराती है किन्तु तभी जब वह मरणकाल में किसी प्रकार की भौतिक कामना शेष न रही हो।

लोग–प्रेतयोनि के प्रति शंका व्यक्त करते हैं किन्तु विद्वानों ने मरणोंपरान्त जिन जिन योनियों की विशेष चर्चा की है, वे हैं १) प्रेतयोनि और (२) देवयोनि। हमने मनुष्यत्व से ऊपर उठकर जिस देवत्व की बात कही थी, वह देवयोनि उससे अधिक उत्कृष्ट और भिन्न है, जिसकी प्राप्ति मनुष्यों को तो मरणोपरान्त ही हो सकती है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं, प्रेतयोनि काल्पनिक है। उसका कोई अस्तित्व नहीं। किन्तु हमारे विचार में प्रेतयोनि है अवश्य और वह देवयोनि से कुछ निकृष्ट प्रकार की है। मनुष्य अपने कर्मफल के भोग से किसी शरीर धारण से वंचित रहता है तब

उसे इन्हीं विशिष्ट योनियों की प्राप्ति होती है।

सक्रियता और सचेतना यह दो विशेष गुण माने गए हैं। देवयोनि में प्राणी शरीर रहित होकर भी इन दोनों गुण से युक्त रहता है। किन्तु सचेतना तो हो और सक्रियता न हो यह लक्षण प्रेतयोनि का है। अभिप्राय यह है कि प्रेतयोनि में सचेतना मात्र रहती है। सक्रियता दोनों का समान रूप से बने रहना स्वाभाविक है। प्रेतयोनि और देवयोनि में केवल इतना ही अन्तर है।

देवता और प्रेत दोनों के ही चौथे शरीर सक्रिय हैं। किन्तु देवता को तो उसके सक्रिय होने का बोध रहता है, जोकि प्रेत को नहीं होता और यह बोध न होने के कारण वह अनेक प्रकार की हानियाँ करता है। वह दूसरों की ही हानि नहीं करता, अपनी भी हानि करता रहता है, जब कि देवता सब प्रकार से सजग रहने के कारण स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, दूसरों को भी लाभ पहुँचाता है।

पांचवे शरीर की सक्रियता

जिस मनुष्य को चौथे शरीर से भी आगे पाँचवें शरीर की सजगता प्राप्त हो गई है, उसके तो कहने ही क्या हैं? पाँचवाँ शरीर आत्मा से सम्बन्धित है। उसमें उत्पन्न सजगता मनुष्य को आत्मज्ञान या आत्मदर्शन का लाभ प्राप्त कराती है। परन्तु पाँचवें शरीर की सक्रियता पर वही पहुँचता है, जिसे चौथे शरीर की सजगता प्राप्त हो चुकी हो।

परन्तु पाँचवें शरीर की सजगता वा सक्रियता प्राप्त

करने वाले मनुष्यों की संख्या बहुत ही कम होगी, क्योंकि यह सभी के लिए सरल नहीं है। प्रथम तो चौथे शरीर की सजगता ही सर्वसुलभ नहीं होती। यदि चौथे शरीर में सजगता न आवे, केवल तीसरे तक ही सीमित रहे तो वह यात्रा प्रेतयोनि पर पहुँचेगी, यदि मरणकाल तक जागृति हो जाए तो देवयोनि पर पहुँच सकती है और पाँचवे शरीर की सजगता प्राप्त मनुष्य को तो मरने के पश्चात् और भी उच्च लोकों की प्राप्ति हो सकती है। जिसे अनेक शास्त्राकारों ने देवयान मार्ग कहा है, उससे वही जा सकता है जिसका आत्मा शरीर जाग्रत हो चुका हो।

स्त्री पुरूष के भेद की समाप्ति

और यह भी एक तथ्य की बात है कि स्त्री–पुरूष के भेद की सीमा वहीं तक है जहां तक कि भौतिकता है। तीसरे शरीर तक तो भौतिकता रहती है, चौथे शरीर में भी उसके कुछ न कुछ अंश शेष रहते हैं। बस स्त्री ओर पुरूष का अन्तर भी यही तक है। यदि मनुष्य चौथे शरीर में आगे सजग नहीं हो पाता तो जब वह पुनः मनुष्य योनि प्राप्त करता है तो उसे अपने पूर्व लिंग की ही प्राप्ति होती है अर्थात् जिस पुरूष ने चौथे शरीर में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मरने के बाद पुनर्जन्म प्राप्त करेगा तो पुरूष ही होगा। इसी प्रकार चौथे शरीर को सजग कर लेने वाली स्त्री मरकर पुनर्जन्म लेगी तब स्त्री ही होगी।

और पाँचवा शरीर प्रेतयोनि और देवयोनि दोनों से भी ऊपर उठ कर है। वहाँ स्त्री या पुरूष की सम्भावना भी पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है। उससे पुनर्जन्म में लौटने वाली

प्राणी स्त्री पुरूष भी हो सकता है।

मनुष्य योनि में पुनरावर्तन

एक तथ्य और भी समझ लेना चाहिए– प्रेतयोनि को प्राप्त हुआ मनुष्य पुनः मनुष्ययोनि को ही प्राप्त होगा, क्योंकि प्रेतयोनि में सजगता नहीं, मूर्च्छा होती है व मूर्च्छित है वह बिना मूर्च्छा दूर हुए आगे नहीं बढ़ सकता, इसलिए उसको पुनः मनुष्य देह में आना आवश्यक है।

प्रेतयोनि से देवयोनि में जाने का उपाय भी यही है कि वह पहले मनुष्य शरीर में आए और फिर देवयोनि प्राप्त करे। देवयोनि तो ८४ लाख योनियों में अन्तिम योनि है। वहाँ से आगे कोई योनि नहीं है। इसलिए देवयोनि में पहुँचे हुए मनुष्य को भी पुनः मनुष्य शरीर में लौटना होगा।

देवयोनि पूर्ण जाग्रत योनि है और जहाँ जाग्रत है वहाँ किसी प्रकार दुख नहीं है, जब सभी प्रकार से तृप्ति हो तो और कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रहती। तृप्ति और सुख हो तो फिर गति भी रूक जाती है, क्योंकि गति तो दुख में हो ही सकती है। दुखी मनुष्य ही मोक्षरूप सुख की कामना कर सकता है।

पुराणों में अनेक कथायें आती हैं कि अमुक व्यक्ति को सुख भोग पूरा होने पर स्वर्ग से गिरा दिया गया। इससे स्पष्ट है कि उसे योनि में गति का अभाव ही रहता है, अन्यथा गिराने की व्यवस्था क्यों कि जाती? जिस प्रकार ऊपर ले जाया गया, उसी प्रकार नीचे पहुँचाया जा सकता था।

और यह भी ठीक ही है कि सुख की समाप्ति होने पर देवलोक या देवयोनि में वापस लौट जाए। वैसे भी देवयोनि बहुत शान्त मानी गई है, वहाँ किसी प्रकार के विकार, उपद्रव या अशान्ति का कोई स्थान नहीं। जब तक सुख भोगा, तब तक कोई बात नहीं, किन्तु सुख भोग समाप्त होने पर केवल घुटन ही शेष रह जाएगी। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को वर्षों सुखपूर्वक रखों, उसे पर्याप्त वस्त्र और अच्छे–अच्छे भोजन दो, किन्तु फिर एकदम भोजन वस्त्रादि को बन्द कर दो। वह चिन्ता और उलझन में पड जाएगा तथा वहाँ चित्त ही न लगेगा।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि देवयोनि में ऊब का प्रारम्भ शीघ्र हो जाता है। जब प्राणी किसी दुःख से अभिभूत नही होता तो यह भी सम्भव ही न रहे जिसे अनन्त समय कहते हैं, उसमें कोई निश्चित अवधि नहीं होती। इस स्थिति का निवारण तभी होता है जब किसी प्रकार की कामना या जिज्ञासा उत्पन्न हो जाए। वैसे पाँचवें शरीर की जिस अवस्था की चर्चा की गई, बहुत से विद्वान उसे मोक्ष, विदेहमुक्ति या आत्मप्राप्ति भी कहते हैं।

पाँचवे शरीर पर अधिकार करने वाला सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसे काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईष्या, द्वेष, प्रीति आदि का बन्धन नहीं रहता। वह इन सबसे निर्लिप्त होकर भी लिप्त होता है तो केवल आत्मा में। अब यह हुआ न आत्मा का बन्धन। कैसी विचित्र माया है भगवान की कि मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त होने पर भी अपने ही बन्धन में फँसा रहता है।

परन्तु आत्मा की प्राप्ति का अभिप्राय अहंकार से नहीं है। शरीर वाले का अहंकार तो नष्ट हो जाता है, किन्तु अस्मिता नष्ट नहीं होती। इसका विदा होना तो तभी सम्भव है जब मनुष्य पाँचवे शरीर से आगे बढकर छठे शरीर को भी सक्रिय बनाले क्योंकि अस्थिरता उसी से नष्ट हो सकती है।

छठे शरीर की क्रिया

पाँचवे शरीर का जागरण होने पर उसमें छठी क्रियाओं की अभिव्यक्तियों का आरम्भ हो जाता है। पाँचवे शरीर में पहुंचने पर फिर किसी योनि में पहुंचने की सम्भावना नहीं रहती, किन्तु योनि समाप्त होने पर उसका अपना जन्म तो रहता ही है।

आप यह पूछ सकते हैं कि जब योनि समाप्त होगी तो जन्म कैसा? आपने सुना होगा कि मनुष्य जन्म से शूद्र होता है और संस्कारों से उस की शुद्धि होने पर ही मनुष्य की द्विज संज्ञा होती है। द्विज का अर्थ हैं दो जन्म। पहला जन्म माता की योनि से और दूसरा संस्कारों से द्विज आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी तो होना ही चाहिए।

और ब्रह्मज्ञानी को छठवें शरीर की प्राप्ति सहज सम्भव है। जब वह ब्रह्मज्ञानी होगया तो स्वयं ही ईश्वर बन सकता है। परन्तु यह तभी होगा जब चेतना टिकी रहेगी। यदि चेतना चली गई तो फिर अवगति में भी बिलम्ब नहीं होगा।

छठा शरीर ब्रह्म से सम्बन्धित है। इसकी चेतना भी ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखती है, जो मुनष्य इसे पा गये वे ईश्वर

के समान बन गये, उसकी पूजा हजारों लाखों व्यक्तियों ने की। भावुक भक्तों की भाषा में वे ही भगवान् बन गये, बुद्ध भी भगवान कहलाए। जैनियों में जो तीर्थंकर कहलाए, वे भी इसी स्थिति को प्राप्त हो चुके थे।

इसी छठे शरीर में सातवें शरीर के निर्वाण की भी अभिव्यक्ति होने लगती है। यदि छठे शरीर में जागरण अपने ठीक स्तर पर रहे तो मनुष्य निर्वाण शरीर को प्राप्त करता है बस उस शरीर में पहुँचना इस जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। उसमें मनुष्य जीवन के विषय में सब कुछ समझ लेता है। सभी कुछ का बोध हो जाता है।

इस प्रकार ४ शरीरों के पश्चात् मनुष्य एक दूसरी दुनियाँ में पहुँच जाता है। उसे जिस ज्ञान की, जिस बोध की जिस शक्ति की उपलब्धि होती है, वह पहले की नहीं हुई होगी। इन शरीरों में मनुष्य पूज्य हो सकता है, भगवान बन सकता है। तीर्थंकर की स्थिति पर भी पहुँच सकता है। बुद्ध, महावीर, वेदव्यास, आदि सब इसी स्थिति पर पहुँचकर पूज्य बन गये। उनके अनुयायियों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती चली गई। लाखों ने उनका महत्व स्वीकार किया था।

विश्व ओंकार परिवार की स्थापना

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र–राज, बीज मन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम्, महानतम और पवित्रतम मन्त्र की संज्ञा दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। यह सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से प्रभावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आध्यात्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषि मुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी को अनुभव करते हुए विश्व ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय बरेली से मँगवा लें। आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके चार अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष ३३००० साधकों द्वारा १५०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है।

आशा है कि ओंकार को जन–जन का मन्त्र बनाने के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक महायज्ञ में आप सम्मिलित होकर महान पुण्य के भागी बनेंगे।

ओंकार रहस्य, ओंकार दैनिक विधि, ओंकार चालीसा, ओंकार कीर्तन और ओंकार भजनावली नामक १)रु० मूल्य वाली सस्ती पुस्तिकाओं को अधिक से अधिक संख्या में वितरित करें।

विश्व ओंकार परिवार — विनीत :

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, — **चमनलाल गौतम**

बरेली–२४३००३. (उ०प्र०)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

डॉ० चमनलाल गौतम एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् ३७ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशक और व्याप्क साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व तन्त्र–मन्त्र आदि साधात्मक साहित्य साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र–तन्त्र, योग, वेदानत व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरीण व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्य्यन, तप, प्रतिभा, और मौलिक सूझ बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह प्रथम चरण पूरा हुआ।

पिछले ३७ वषों से लगाताचार चल रही आध्यात्मिक साधना के महापुश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण में आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ विश्व ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसर चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ो व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार–प्रसार को समर्पित है।

-स्वामी सत्यभक्त

श्रेष्ठतम धार्मिक साहित्य

श्रेष्ठतम योग – ज्योतिष साहित्य

योग व चिकित्सा साहित्य
कुण्डलिनी जागरण
ध्यान की चमत्कारिक अनुभूतियाँ
ध्यान की सरल साधनायें
ध्यान के गहरे प्रयोग
ध्यान से चिन्ता निवारण
त्राटक से मानसिक शक्ति
प्राणायाम के असाधारण प्रयोग
योगासन से रोग निवारण
हठयोग प्रदीपिका द्धभा.टी.ऋ
घेरंड संहिता (भा.टी.)
शिव संहिता (भा.टी.)
गोरक्ष संहिता (भा.टी.)
वृहत् शिवस्वरोदय (भा.टी.)
हिप्नोटिज्म (सम्मोहन विज्ञान)
पेट रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा
कच्चा खायें, स्वस्थ रहें।
लहसुन और प्याज।
मूत्र चिकित्सा
सौ वर्ष तक स्वस्थ रहें।
सरल घरेलू चिकित्सा।
मोटापा कैसे दूर हो।
कद ऐसे वढ़ायें?

ज्योतिष साहित्य

मानसागरी (भा.टी.)
कर्म विपाक संहिता (भा.टी.)
मूहर्त चिन्तामणी (भा.टी.)
लग्न चन्द्रिका (भा.टी.)
शीघ्र बोध (भा.टी.)
हस्तरेखा महा विज्ञान
हस्तरेखायें
भाग्य रेखायें
प्रारम्भिक ज्योतिष विज्ञान
द्वादश ग्रह फलादेश विज्ञान
महादशा विज्ञान
ज्योतिष योग रत्नाकर
रत्न ज्योतिष विज्ञान
मुहूर्त ज्योतिष विज्ञान
प्रश्न ज्योतिष विज्ञान
राशि ज्योतिष विज्ञान
फलित ज्योतिष विज्ञान
स्वप्न ज्योतिष विज्ञान
ज्योतिष और गृहपीड़ा निवारण
आकस्मिक धन लाभ के योग
ज्योतिष और जन्म लग्न
जन्मकुण्डली (निर्माण और अध्ययन)
शकुन ज्योतिष विज्ञान
वर्ष फल कैसे बनायें?
स्त्री जातक विज्ञान

संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वेदनगर) बरेली – 243003
फोन : 97194 78700, 98375 35607